"ताण्ड्य महाब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन"

[A CULTURAL STUDY OF THE TANDYA MAHABRAHMANA]

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० चन्द्रभूषण मिश्र
रीडर, संस्कृत बिभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्ता
केदारनाथ त्रिपाठी
एम० ए०

इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१९९२

" पुरोवाक् "

"वेद" भारतीय परम्परा में प्राचीनतम और सर्वाधिक पवित्र माने जाते वाले ग्रन्थ हैं, "धर्म विषयक जिज्ञासा के समाधान के लिए श्रुति ही प्रमाण है - "धर्म जिज्ञास्यामानानां प्रमाणं परमं श्रुति:" - वेद धर्म का मूल और समस्त ज्ञान से युक्त है, चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, वर्तमान भविष्य, इन सबका परिज्ञान वस्तुत: वेद से ही होता है-

" वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" " सर्वं ज्ञानमयो हि स: "
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वाराश्चाश्रमा: पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्ववेदात् प्रसिद्ध्यति ।।

"वैदिक" शब्द से वेदविषयक बहुविधि सामग्री का ज्ञान होता है, यह बहुविधि सामग्री ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् है। वैदिक संहिताओं के बाद "ब्राह्मण साहित्य" का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मण ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ विधान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा दी गयी व्याख्याएँ हैं-"ब्राह्मण" शब्द "ब्रह्मन" के व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को भी कहते हैं- "ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थ:"।

ब्राह्मणों में मंत्रों , कर्मों की तथा विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मणों की अन्तरंग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक, तथा आध्यात्मिक, मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय

विश्वकोश है। समग्र साहित्य को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है-पहला विधि, दूसरा-अर्थवाद। विधि का अर्थ होता है- नियम और अर्थवाद का अभिप्राय है- प्रशस्तिपूर्ण व्याख्या। वास्तव में ब्राह्मण साहित्य बड़ा विशाल था, परन्तु आज अनेक ब्राह्मण काल कवलित हो गये हैं, केवल उनका नाम तथा उद्धरण ही श्रौत ग्रंथों में पाया जाता है। चारों वेदों के अपने अलग-अलग ब्राह्मण हैं। सामवेद से सम्बन्धित "ताण्ड्यमहाब्राह्मण" है।

वास्तव में बाल्यकाल से ही मुझे संस्कृत साहित्य के प्रति रूचि रही है। "स्नातक" कक्षा में भी मैंने अन्य विषयों के साथ संस्कृत को ऐच्छिक तथा अनिवार्य भाषा के रूप में अपनाया। बी०ए० की परीक्षा "कमला नेहरू विज्ञान एवं तकनीकी संस्थान, सुलतानपुर, महाविद्यालय से उत्तीर्ण किया। महाविद्यालय में बी०ए० कक्षा में ईश्वर की महती अनुकम्पा से मुझे प्रथम स्थान प्राप्त हुआ, तभी से मन में मैंने निश्चित कर लिया था कि परास्नातक कक्षा में मुझे संस्कृत विषय ही लेना है, पुनः प्रेरणा स्वरूप मैंने एतद् विषय को ही अपनाया। प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग में मेरा प्रवेश हुआ, क्रमशः वेद को मैंने प्राथमिकता दी, और एम०ए० की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया।

परास्नातक पाठ्यक्रम में पढ़ते समय मैंने वैदिक साहित्य का अध्ययन किया था। इस लिए एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात मैंने शोध करने का निश्चय किया।

ब्राह्मण साहित्य का सूक्ष्म से ही अध्ययन किया था, विषय चुनाव में मुझे सौभाग्य से "ताण्ड्य महाब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन" विषय मिला। इससे अतीव प्रसन्नता हुई। मैंने इसी विषय पर डॉ० चन्द्रभूषण मिश्र, रीडर संस्कृत विभाग, के निर्देशन में शोध कार्य आरम्भ कर दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध परम श्रद्धेय गुरुप्रवर डॉ० चन्द्रभूषणमिश्र रीडर, संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, की अहैतुकी महती कृपा का परिणाम है, जिनके सफल निर्देशन में "ताण्ड्य महाब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन" विषय शोध-प्रबन्ध का रूप धारण कर सका। इसके लिए मैं उनके प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त करता हूँ। जिन्होंने प्रारम्भिककठिनाइयों से लेकर अन्त तक अप्रतिम सहायता की, और पदे-पदे अपने अनुभवपूर्ण बहुमूल्य निर्देशों से लाभान्वित किया।

पुन: श्रद्धेय गुरुवर्य प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, तथा गुरुवरडॉ० हरिशंकर त्रिपाठी रीडर, संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से जो सत्प्रेरणाएं मिली हैं, और उनसे जो स्नेह मिला है, एतदर्थ उन्हें एक विनीत शिष्य के रूप में श्रद्धावनत प्रणाम सुमन अर्पित करता हूँ। इनके अतिरिक्त मैं विभाग के उन समस्त गुरुजनों के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मेरा मार्गदर्शन किया है।

शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरे परिवार का भी बहुत सहयोग है। पूज्य पिता जी तथा माता जी, दोनों बड़े भाई, बहिन तथा छोटे भाई एवं दोनों भाभी जी तथा छोटे बच्चों ने मुझे शोधप्रबन्ध को पूर्ण करने की सतत् प्रेरणा दी है, इन सभी लोगों के आशीर्वाद एवं स्नेह को प्राप्त कर मैं अपना कार्य पूर्ण कर सका हूँ। फलतः इनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मेरा परम कर्तव्य है। साथ ही साथ परम मित्र एवं सहयोगी कृष्णमुरारी त्रिपाठी, मनोज त्रिपाठी, अरविन्द त्रिपाठी तथा लालसिंह प्रभृत समस्त मित्रों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे शीघ्र कार्य सम्पन्न करने हेतु प्रेरित किया।

शोधकार्य में जिन पुस्तकालयों से यत्किंचित सहयोग प्राप्त हुआ है, वहाँ के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति तथा स्वच्छ एवं सुन्दर टंकण हेतु मैं डॉ0 विजयशंकर ओझा के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्ततः शोध प्रबन्ध में टंकण विषयक प्रमादवश हुई परिहार्य तथा अपरिहार्य त्रुटियों के लिए मैं सुधी परीक्षकों एवं विद्वज्जनों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

विनयावनत

केदारनाथ त्रिपाठी

केदार नाथ त्रिपाठी

दिनांक : 18.11.92

" विषयानुक्रमणिका "

प्रथमोऽध्याय:

" ब्राह्मण साहित्य का सामान्य अध्ययन"

विषय प्रवेश | पृष्ठ संख्या

द्वितीयोऽध्याय: "ताण्ड्य महाब्राह्मण"

तृतीयोऽध्याय: "यज्ञ-संस्था"

चतुर्थोऽध्याय:

"ताण्ड्य महाब्राह्मण में उपलब्ध सांस्कृतिकतत्वों का निरूपण"

पंचमोध्याय:

"ताण्ड्य महाब्राह्मण कालीन आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति"

प्रथमोऽध्याय:

ब्राह्मण साहित्य का सामान्य अध्ययन

वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय

वेद भारतीय परम्परा में प्राचीनतम् और सर्वाधिक पवित्र माने जाने वाले ग्रंथ हैं। "मनुस्मृतिकार" ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि "धर्म विषयक जिज्ञासा के लिए श्रुति ही प्रमाण है"[1]। वेद धर्म का मूल और समस्त ज्ञान से युक्त है, चारों वर्ण, तीनों लोक, चारो आश्रम, भूतवर्तमान और भविष्य इन सबका परिज्ञान वेद से होता है"।[2]

विषय विचार की दृष्टि से वेद और वैदिक साहित्य दोनों की अलग-अलग श्रेणियाँ हैं। "वेद" शब्द से जहाँ चार मंत्र संहिताओं का ही ज्ञान होता है, वहाँ "वैदिक" शब्द से वेद विषयक बहुविधि सामग्री का ज्ञान होता है। यह बहुविधि सामाग्री ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् की है जो मंत्र संहिताओं से भिन्न है, किन्तु जिसका मंत्र संहिताओं से अटूट सम्बन्ध है। वही वैदिक साहित्य के ग्रन्थ हैं। उपनिषद ग्रन्थों के बादपरिगणित होनेवाले षड्-वेदांग भी सम्बन्ध की दृष्टि से वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।

धर्म, संस्कृति, समाज, राजनीति, दर्शनकर्म और अर्थ संबंधी विषयों के तुलनात्मक अध्ययन और उनके असमान पहलुओं को दृष्टि में रखकर भी वैदिक युग को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, 1. पूर्ववैदिक युग और 2. उत्तर वैदिकयुग। इस दृष्टि से भी पूर्ववैदिक युग में केवल वेद की चार संहिताएँ, और उत्तर वैदिकयुग में ब्रह्मण ग्रंन्थों से लेकर छह वेदांगों तक का साहित्य रखा जा सकता है।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. "धर्म जिज्ञास्यमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" । "मनुस्मृति"
2. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" सर्वज्ञानमयो हि सः
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वाराश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ।। "मनुस्मृति"

"वेद" शब्द की "व्युत्पत्ति"

अति प्राचीन समय से लेकर आज तक हिन्दू जाति का वेदों पर एक जैसा विश्वास रहा है, वेद हिन्दू धर्म की सर्वाधिक प्राचीन एवं पवित्र पुस्तक है। यह पुस्तक न तो "कुरान" को तरह एकमात्र धर्म पुस्तक है,और न तो "बाइ-बिल" की भाँति अनेक महापुरुषों की बाणियों कासंग्रह मात्र ही , वह तो एक पूर्ण साहित्य था, और है भी।

प्राचीन आचार्यों ने "वेद" शब्द से उस युग के समस्त ग्रन्थों को अभिहित किया है। वेद चार हैं-ऋग्वेद,यजुर्वेद,सामवेद,अथर्ववेद। इन चारों की चार संहिताएँ भी है : ऋग्वेद संहिता,यजुर्वेद संहिता,सामवेद संहिता और अथ-र्ववेद संहिता। संहिता संकलन या संग्रह को कहते हैं। प्रत्येक संहिता में अलग-अलग वेदों के मंत्र संकलित हैं।

संहिता,ब्राह्मण,उपनिषद्,आयुर्वेद,नाट्यशास्त्र,कल्प और मनुस्मृति के आधार पर ज्ञात होता है कि वेद शब्द "विद्" धातु से बना है। इसका प्रयोग विद्सत्तायाम्,विद्ज्ञाने,विदविचारणे तथा विद्लाभे अर्थों में होता है। वास्तव में आज हम जिस अर्थ में "शास्त्र" और "विज्ञान" शब्द का प्रयोग करते हैं, लगभग उसी अर्थ में "वेद" शब्द प्रयुक्त होता था, इससे ज्ञान की किसी एक शाखा का बोध ही नहीं होता, बल्कि ज्ञान की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। "स्वामी दयानंद सरस्वती ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में वेद का निर्वचन इस तरह किया है"- "जिनसे सभी मनुष्य सत्य विद्या को जानते हैं अथवा प्राप्त करते हैं या विचारते

हैं अथवा विद्वान होते हैं अथवा सत्य विद्या की प्राप्ति के लिए जिनमें प्रवृत्त होते हैं, वे वेद हैं[1]। डा0 वाचस्पति गैरोला के कथनानुसार "वेद शब्द वैदिक युग में वाङ्मय के पर्याय वाची शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होता था, बाद में ब्राह्मणकाल की रचनाओं के साथ सूत्र शब्द, स्मृति युग की रचनाओं के साथ स्मृति शब्द तथा पुराण युगीन रचनाओं के साथ पुराण शब्द जोड़ा जाने लगा।"[2]

पुनः हमदेखते हैं कि आश्वलायन श्रोत सूत्र में अनेक विधाओं के साथ वेद शब्द का प्रयोग किया गया है" मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहा गया है"।[3]

अगर हम वेदों के काल पर हल्का सा दृष्टिपात कर लें तो वैदिक साहित्य तथा वेदों की प्राचीनता तथा विभिन्न देशी तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक काल के निर्धारण को समय सीमा की भी सामान्य जानकारी मिल जाएगी। वास्तव में इस विषय में आज तक जो भी प्रयास किया गया है वह मात्र अनुमान पर आधारित हैं, जैसे-ऋग्वेद के समय का निर्णय आज तक सर्वसम्मत

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. "विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विन्दते लभन्ते, विन्दन्ति, विचारयति सर्वे मनुष्याः, सत्यविद्यां येयेषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः"।

"स्वामी दयानन्द सरस्वती (ऋग्वेदभाष्यभूमिका पृष्ठ 5।)

2. डा0 वाचस्पति गैरोला- संस्कृत साहित्य का इतिहास (पृष्ठ संख्या 32)

3. "मन्त्र ब्राह्मणोर्वेदनामधेयम्"।

आश्वलायन श्रोतसूत्र

नहीं हो सका है, अगर जो कुछ हुआ भी है, उसमें यदि दस-बीस वर्षो का अन्तर हो तो ठीक है, मगर वहाँ तो हजारों वर्षो का अन्तर विद्यमान है। शायद् इसी कारण"ह्विट्ने" ने लिखा है"भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई समस्त तिथियाँ कागज में लगायी गई पिनों के समान हैं जो फिर से निकाल ली जाती हैं"।[1] वैदिक काल निर्धारण के जो प्रयास हुए हैं, वे इस प्रकार हैं-[2]

गौतम	4 लाख वर्ष पूर्व
पं0दीनानाथ शास्त्री	3 लाख वर्ष पूर्व
शर्मा एवं रघुनंदन	88 हजार वर्ष पूर्व
अमलेकर	96 हजार वर्ष पूर्व
अविनासचन्द्र	25 हजार वर्ष पूर्व
विन्तल	08 हजार वर्ष पूर्व
बालकृष्ण	06 हजार वर्ष पूर्व
जैकोबी	04 हजार वर्ष पूर्व
वैद्य	03 हजार एक सौ वर्ष पूर्व
भण्डारकर	03 हजार वर्ष पूर्व
विन्टरनित्स	02 हजार पाँच सौ ई0पूर्व
हाग,प्राट	02 हजार ई0 पूर्व
मैक्समुलर	02 हजार ई0 पूर्व
इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका	1500-1200 ई0पूर्व

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. "वैदिक साहित्य का परिचय" - डॉ राजकिशोर सिंह
[पृष्ठ संख्या 31-32]

"वेद त्रयी और चतुर्वेद"

वस्तुत: 'वेद' शब्द का वास्तविक अभिप्राय मात्र संहिता भाग से है क्यों कि ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् भाग उसकी व्याख्या व भाष्य ही हैं। कभी-कभी यह भ्रम होता है कि वेद चार है या तीन। प्राचीन साहित्य में "वेदत्रयी" और चतुर्वेद दोनों शब्दों का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे अगर भ्रम उत्पन्न होता है तो स्वाभाविक ही है कि वेदों की वास्तव में संख्या क्या है? पुन: ऋग्वेद,[1] ऐतरेय ब्राह्मण[2] सायण की अथर्ववेद की भूमिका[3] तथा मनुस्मृति[4] में ऋक् यजु: तथा साम का उल्लेख है। इस तरह अनुमान होता है कि वेद तीन ही थे। । अथर्ववेद के 6000 मंत्रों मे से लगभग 1200 मंत्र ऋक् मेंपाये जाते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि वेद तीन ही थे। परन्तु यजुर्वेद[5], गोपथ ब्राह्मण[6], मुण्डकोपनिषद्[7], बृहदारण्योपनिषद्[8] निरूक्त[9], से इस भ्रम का निवारण हो जाता है और वेदों की संख्या चार ज्ञात हो जाती है।

- -

1. "ऋच: सामानि जज्ञिरे ...यजुस्तस्मादजायत"। (ऋग्वेद-10/90/9)
2. "त्रयोवेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्ने रजायत यजुर्वेदो वायो: सामवेद आदित्यात्"। (ऐतरेय ब्राह्मण 5/32)
3. " यं ऋषयस्त्रयिविदाविदु:। ऋच: सामानि यूजषि।" (सायण की अथर्ववेद की भूमिका)
4. "अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
   दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृगयजु: सामलक्षणम् ।।" मनुस्मृति 1/23"
5. "ऋच: सामानि जज्ञिरेछन्दासि ज्ञिरे"। (यजुर्वेद 31/7)
6. "चत्वारो वा इमो वेदा ऋग्वेदो, यजुर्वेदो सामवेदो ब्रह्मवेद:।"
   गोपथ ब्राह्मण 1/2/16
7. "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद:"। मुण्डकोपनिषद् 1/1/5
8. "अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेतद्, यदृगवेदो सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस:"।
   -बृहदारयकोपनिषद 2/4/10
9. निरूक्त - 1/2

लोक प्रतिष्ठा वेदों को चार का पर्याय मानती है। ऋग्वेद[1] का चार सींग और तीन पैर इसी का संकेत ही करता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत है है कि "बहुत काल तक त्रयी के समान अथर्व को मान्यता नहीं प्राप्त थी, और यह मान्यता शनैः शनैः अवान्तर शताब्दियों के प्रयास का श्लाघनीय फल है।"[2]

प्रत्येक वेद के चार भाग हैं : संहिता ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद। संहिता मंत्रों का वह भाग है, जिसमें वेदस्तुति वर्णित है। ब्राह्मणग्रंथों में मंत्रों के विधिभाग की व्याख्या है। आरण्यक ग्रन्थों में वानप्रस्थी जीवन बिताने वाले वीतराग मनस्वियों के कर्मविधान का प्रतिपादन है तथा उपनिषद् ग्रन्थों में मंत्रों की दार्शनिक व्याख्या की गई है। इन्हीं का संक्षिप्तवर्णन इस प्रकार है-

"संहिताएँ" :-

वेदमंत्र अनेक ऋषियों , सम्प्रदायों , कई विद्यानिकेतनों और विभिन्न युगों में संकलित, संपादित होकर संप्रति वर्तमान संहिताओं के रूप में वर्गीकृत हुई हैं। व्याकरणव्युत्पत्ति के अनुसार "संहिता उसको कहते हैं, जिसमें पदों के अन्त का दूसरे पदों के आदि से मिलान किया जाता है। प्रतिशाख्यों के कथनानुसार "पदों की मूल प्रकृति ही संहिता है। वास्तव में मूल वैदिक मंत्र एक साथ सन्नद्ध थे, जब उनको अलग-अलग छाँटा गया, तब उनको पृथक-पृथक शाखाएँ, संहिताएँ और तदनन्तर उनकी भी शाखाएँ निर्मित हुईं।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. ऋग्वेद - 4/58/6 - यह उनकी संख्या, अंग और रहस्य का संकेत करता है।
2. वैदिक साहित्य और संस्कृति -(पृष्ठ 17)

" ऋक् संहिता "

वेद चार हैं प्रत्येक वेद की अपनी अलग -अलग संहिताएं है। ऋग्वेद की 21 संहिताएँ बताई गई हैं, किन्तु इसकी इस समय 1 संहिता ही उपलब्ध है। जिसका नाम है-शाकल संहिता, इसकी भी पाँच शाखाएँ है।शाकल संहिता के तीन विभाग हैं-मंडक,अनुवाक और वर्ग , इन्हें अष्टक अध्याय और सूत्रक भी कहते हैं। समग्र संहिता में 10 मंडल तथा 85 अनुवाक है तथा 2008वर्ग हैं। इस तरह 8 अष्टक, 64 अध्याय और 1018सूक्तठहरते हैं।

" यजुर्वेद संहिता "

दूसरा वेद यजुर्वेद है। "यजुष" शब्द का अर्थ पूजा एवं यज्ञ है, जिस प्रकार ऋग्वेद के मंत्रों का विषय देवताओं का आवाह्न करना अर्थात् बुलाना है उसी प्रकार यजुर्वेद के मंत्रों का विषय यज्ञ विधियों को सम्पन्न करना है। यह वेद कर्मकाण्ड प्रधान है। यज्ञ अनेकविध हैं। देवताओं को प्रसन्नता के लिए यज्ञों का विधान है, किस यज्ञ में किन-किन मंत्रों का व्यवहार किया जाना चाहिए, इसकी विधियाँ यजुर्वेद में वर्णित हैं। ऐसे मंत्रों के संग्रह का नाम ही "यजुर्वेद संहिता" है।

"विभाग और शाखाएँ "

यजुर्वेद के दो भाग हैं-कृष्ण और शुक्ल। छन्दोबद्ध मंत्र और गद्यात्मक विनियोगों के सम्मिश्रण के कारण पहले भाग का नाम कृष्ण और छंदोबद्ध मंत्रों तथा विनियोगों के अभाव में दूसरे भाग का नाम शुक्ल पड़ा, शुक्ल यजुर्वेद के संबंध में

ऐसा भी कहा जाता है, कि सूर्य के द्वारा याज्ञवल्क्य ऋषि को दिन में ज्ञान प्राप्त होने के कारण दूसरे भाग का नाम शुक्ल यजुर्वेद पड़ा। इन दोनों कृष्ण तथा शुक्ल की लगभग 100 शाखाएं थीं जिनमें इस समय 5 ही उपलब्ध हैं। शाखाएँ संहिताओं को कहते हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की तीन शाखाएँ : तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ हैं। शुक्ल यजुर्वेद की दो संहिताएँ हैं-काण्व व वाजसनेय। काण्व, माध्यंदिन, जाबाल बुधेय, तापनीय, कापील, पौड्रवहा, आवर्तिक, परमावर्तिक, पाराशरीय, वैनेय, बौधेय, योधेय और गालव, इन 15 शाखाओं को वाजसनेय शाखा कहा जाता है। याज्ञवाल्क्य के 15 शिष्यों द्वारा इनका आविर्भाव माना जाता है।

कृष्ण यजुर्वेद की संहिताएँ गद्य एवं पद्य दोनों में हैं। शुक्ल संहिता का उत्तर एवं दक्षिण भारत में सर्वाधिक प्रचार है। कृष्ण यजुर्वेद की 86 शाखाओं का वर्णन है किन्त "वाह्याभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर उनकी संख्या 41 हैं।[1]

" सामवेद संहिता "

साम का अर्थ है सुंदर, सुखकर वचन। संगीतविधा को सर्वाधिक सुखकर एवं आनन्द दायक विधा माना गया है। "साम[2] का अर्थ भी संगीत अर्थात् गान है।

- - - - - - - - - - - - - -

1. वैदिक ब्राह्मण -मैक्डानल

"उद्गाता" वेद मंत्रों का उच्चारण करने वाले आचार्य को कहते हैं। सामवेद की अनेक संहिताएँ थीं, मगर आज केवल तीन ही उपलब्ध हैं :- "कौथुम", "जैमिनीय" और राणायणीय संहिता कौथुम का गुजरात में, जैमिनीय का कर्नाटक में और राणायणीय का महाराष्ट्र में विशेष प्रचार है।

सामवेद में गेय ऋचाएँ और गेय यजुष दोनों ही हैं। सामवेद के ऋचा समूह को "आर्चिक" और यजुष समूह को "स्तोक" कहते हैं। आर्चिक और स्तोक ही साम कहलाते हैं। कई विद्वानों का कथन है कि महर्षि "जैमिनि" सामवेद के प्रथम द्रष्टा था, उसके बाद उन्होंने सामवेद की शिक्षा अपने पुत्र या शिष्य सुमन्तु को, सुमन्तु ने सुत्वा को और सुत्वा ने सुकर्मा को दी। वास्तव में उक्त शिष्य परम्परा ने ही सामवेद संहिता को अनेक शाखाओं प्रशाखाओं में आगे बढ़ाया है।

सामवेद की अधिकांश ऋचाएँ गायत्री एवं जगती छन्दों में हैं। इन दोनों छन्दों की व्युत्पत्ति [गा] अर्थात गान से होती है। इसलिए यह स्पष्ट हो है कि सामवेद की अधिकांश ऋचाएँ गेय हैं तथा संगीतबद्ध हैं। समग्र सामवेद संहिता में कुल 75 मंत्र ऐसे हैं जिनका किसी दूसरी संहिता में उल्लेख नहीं मिलता और बाकी सभी मंत्र ऋग्वेद में उल्लिखत हैं। सामवेद के समय में तीन प्रधान वाद्य यंत्र थे :- "दुन्दुभि", "वेणु" और "वीणा"। "भीष्म की शवदाह क्रिया के समय सामगान गाया गया था।"[1] छांदोग्यपनिषद में सामगान की क्रिया को पाँच

- - - - - - - - - - - -

1. महाभारत -शान्ति पर्व, अध्याय 16

अंगो में विभाजित किया गया है- हिंकार, प्रस्ताव उद्गीथ प्रतिहार और विधान। सामगान को लय के नाम हैं,क्रुष्ट प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, मंद्र और अतिस्वार्य।

" अथर्ववेद "

अथर्ववेद चौथा वेद है। अथर्वा नामक ऋषि अतिप्राचीन है। इसका उल्लेख ऋग्वेद में भी है।[1] "अथर्वा" नामक ऋषि के नाम से हो अथर्वेद का नामकरण माना गया है। ब्राह्मणकाल में अग्नि पूजकों को अथर्वन कहते थे, पुराणों के समय पुरोहितों कीसंज्ञा अथर्वन थी। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ ब्राह्मण है। इसमें ऋषि अथर्वा के उत्पत्ति को कथा वर्णित है। इस वेद में कुल 730 सूक्त हैं जिनमें लगभग 200 सूक्तों के ऋषि अथर्वा हैं। शेष सूक्त 129 ऋषियों के योगदान हैं।इनमें भी ब्रह्मा तथा अंगिरा ऋषियों के सूक्त अधिक हैं। अथर्वा ऋषि के सूक्तों की अधिकता के कारण सम्भवत: इस वेद का नाम अथर्व पड़ा होगा। नामों के विषय में वृहद्देवता की मान्यता है कि "सभी नाम कर्म द्वारा उत्पन्न होते हैं।"[2] इस तरह "अथर्वन शब्द का तात्पर्य वेद के मांगलिक विधानों अर्थात भेषजानि से है"।[3] "निरुक्तकार ने बताया है "चित्तवृत्ति के निरोध रूप समाधि से सम्पन्न व्यक्ति"।[4]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. "अग्निर्जातो अथर्वणा" - ऋग्वेद - 10/21/5

2. वृहद्देवता -[पृष्ठ 26, अध्याय 1]

3. "क्षां ब्रूमो यजमानमृच, सामानि भेषजा।"[अथर्ववेद -11/6/4

4. "अथर्वाणोऽथर्वणवन्त:। थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेध:"।

" ब्राह्मण साहित्य "

वैदिक संहिताओं और इनकी शाखाओं के बाद ब्राह्मण ग्रंथों का समय आता है, ये प्रधानतः कर्मकाण्ड विषयक हैं। ब्राह्मण साहित्य से हमारा तात्पर्य यज्ञ विशेष पर किसी श्रेष्ठ मत के आचार्य के वाद से है। यह मूल रूप से यज्ञ विधान पर पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्या है। चूँकि शोध प्रबन्ध का विषय ताण्ड्य महाब्राह्मण है, अस्तु, इसका वर्णन विस्तृत रूप से आगे किया जायेगा।

" आरण्यक साहित्य"

वैदिक साहित्य के प्रपूरक अंग संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक,उपनिषद् आदि हैं। ब्राह्मण ग्रंथों के बाद इसका स्थान आता है। संहिताओं का अंतिम भाग ब्राह्मण, ब्राह्मणों का अंतिम भाग आरण्यक, और आरण्यकों का अन्तिम भाग उपनिषद है। बोधायन धर्मसूत्र में आरण्यकों को भी ब्राह्मण कहा गया है। वस्तुतः दोनों कर्मकाण्डविषयक है, अस्तु कोई विशेष अंतर दोनों में नही है।

मंत्र संहिताओं और ब्राह्मणों की भाँति आरण्यक ग्रन्थों की भी संख्या ।।30 थी, किन्तु जिस प्रकार संहिताएँ और ब्राह्मण कुछ ही उपलब्ध हैं, उसी प्रकार केवल 8 आरण्यक उपलब्ध हैं जिसमें : ऐतरेय ,शांखायन आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, वृहदारण्यक, माध्यन्दिन वृहदारण्यक,काण्व वृहदारण्यक, जैमिनीयोपनिषदारण्यक और छांदोग्यारण्यक।

आरण्यक उस साहित्य को कहा जाता हैं जिनका अध्ययन और अध्यापन नगरों और ग्रामों से दूर अरण्य में होता था। इसीसंबंध में कहा गया था"। आरण्यकों में प्राणविधा की विशेष रूप से महिमा की गाथा है। आरण्यक अर्थात आरण्यों में उद्भूत सांसारिक विषय वासनाओं एवं नानाविध बाधा बंधनों का परित्याग कर और शांत एकांत, जनकोलाहल से दूर वनों में रहकर ऋषि श्रेष्ठों ने जिस ब्रह्मविधा विषयक महान् ज्ञान का साक्षात्कार किया था, उसी का संग्रह आरण्यक ग्रंथ हैं।

जिस प्रकार गृहस्थाश्रम के यज्ञ विधानों और दूसरे कतिपय कर्मो का प्रतिपादन ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित है, उसी प्रकार वानप्रस्थाश्रम के जितने भी यज्ञ महाव्रत तथा हौत्र आदि कर्म हैं,उनकी विधियाँ एवं व्याख्याएँ ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित हैं। आरण्यक वानप्रस्थियों के कर्मकाण्ड तो हैं ही साथ ही उनमें यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या का भी प्रतिपादन बड़ी ही खूबसूरती से हुआ है।

ऐतरेय और कौषीतकि दोनों आरण्य ग्रंथों के प्रथम भाष्यकार सायण और दूसरे शंकर हुए। "वृहदारण्यक" पर रामानुज,शंकर,सायण ने भाष्य लिखा है। इस प्रकार इसी ब्राह्मण ग्रंथ का शेष भाग आरण्यक है।

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. " आरण्याध्यनादेतद् आरण्यकमितीयते ।
अरण्ये तत्धीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते ।।"

(तैत्तरीय आरण्यक भाष्य,श्लोक-6)

" उपनिषद्साहित्य "

वेदों के तीन प्रमुख भाग हैं- कर्म,उपासना,ज्ञान। कर्म विषय का प्रतिपादन संहिता एवं ब्राह्मण भाग में हुआ है। उपासना का विषय — संहिता तथा आरण्यक भाग में वर्णित है, और तीसरे ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ उपनिषद हैं जो कि मोक्ष साधन का मार्ग निर्देश करते हैं। भारतीय विचार परम्परा के इतिहास में उपनिषद ग्रंथों के आविर्भाव से वैदिक साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात होता है। ब्राह्मण ग्रंथों से लेकर उपनिषद् ग्रंथों तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मंत्र संहिताओं की ही व्याख्या रूप है। इसी का आधार ब्राह्मण एवं उपनिषद् दोनों लेकर चलते दिखायी पड़ते हैं। यद्यपि उपनिषद् ग्रंथों का सीधा संबंध मंत्र संहिताओं से है, किन्तु उन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों का आलोचना ग्रंथ कहा जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि कर्म भावना को लेकर ब्राह्मणों की रचना हुई तथा ज्ञानभावना को लेकर उपनिषद् रचे गये।

उपनिषद् शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य शब्द पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह शब्द उप+नि+सद् धातु से बना है जिसका अर्थ है शिष्य का गुरू के समीप रहस्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए बैठना। वैदिक साहित्य की रूपरेखा में लिखा है"उपनिषदों में प्राप्त होने वाले भाव किसी एक दार्शनिक के भाव नहीं है जिसका अन्वेषण किसी एक शिक्षा पद्धति के अनुसार किया जा सके, वे तो विभिन्न व्यक्तियों की भावनाएँ हैं जो विभिन्न काल में विस्तार के साथ

मुखरित हुई"।[1] शापेनहावर, प्लेटो, कान्ट उपनिषदों को अपना गुरू मानता था और कहता था भारतीय देवतावाद का विश्व में प्रसार होगा।

"उपनिषद साहित्य की सर्वाधिक अर्वाचीन कृति मुक्तिकोपनिषद् है, जिसमें 108 उपनिषदों का नामोल्लेख है जिसका सम्बन्ध वेदों से जोड़ा गया है वे इस प्रकार है-।[2]

ऋग्वेद से सम्बद्ध	दस उपनिषदें
शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध	उन्नीस उपनिषदें
कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध	तैंतीस उपनिषदें
सामवेद से सम्बद्ध	सोलह उपनिषदें
अथर्ववेद से सम्बद्ध	इक्कीस उपनिषदें

फिर भी प्रमुख उपनिषद् बारह है जिनके नाम ईशावास्य, केन्, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि, श्वेताश्वर हैं। बाद में शांकरमतानुयायियों ने भी इन पर टीकाएँ लिखी हैं।

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. वैदिक साहित्य की रूपरेखा -
डॉ० पाण्डेय एवं जोशी पृष्ठ संख्या-190

2. वैदिक साहित्य का इतिहास -डॉ० राजकिशोर सिंह पृष्ठसंख्या-204

" ब्राह्मण साहित्य "

ब्राह्मणों का साहित्य बड़ा ही विशाल था, परन्तु आज अनेक ब्राह्मण काल-कवलित हो गये हैं। इस समय अब तो उनका नाम निर्देश तथा उद्धरण ही कुछ श्रौत ग्रंथों में उपलब्ध होता है। वास्तव में मानव जाति के विकास के अध्ययन का मूल स्रोत होने के कारण भारतीय वाङ्गमय अर्थात वैदिक साहित्य विश्व के किसी और साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट है, अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय जन वेद को ईश्वरीय वाणी मानते आ रहे हैं। वेद ही उनके समस्त चिंतन तथा मनन का मुख्य आधार भी रहा है। वास्तव में वैदिक वाङ्गमय समस्त भारतीय वाङ्गमय का मूर्धन्य रहा है।

"ब्राह्मण का अर्थ"

वैदिक संहिताओं के पश्चात वैदिक वाङ्मय के समय क्रम में ब्राह्मण संहिता ही महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। ब्राह्मण साहित्य से हमारा अभिप्राय यज्ञ विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य के मत या वाद से है। ब्राह्मण ग्रंथ सामूहिक रूप से यज्ञ विधान पर विद्वान पुरोहितों द्वारा दी गई व्याख्याएँ ही हैं। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन् के व्याख्या करने वाले ग्रंथों को भी कहते हैं।[1] ब्रह्म शब्द स्वयं अपने अर्थों में प्रयुक्त होता है। उन अनेक अर्थों में एक अर्थ मन्त्र है।[2]

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. "ब्रह्मवै मन्त्रः" - शतपथ ब्राह्मण 7/1/1/5

2. "ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मंत्राणां च व्याख्यानग्रन्थः"।
- भट्ट भास्कर, तैत्तिरीय संहिता भाष्य 1/5/1

इस प्रकार वैदिक मंत्रों या ऋचाओं की व्याख्या करने वाले ग्रंथों का नाम ब्राह्मण है। ब्रह्म शब्द का दूसरा अर्थ यज्ञ है, याज्ञिक कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण भी इन्हें ब्राह्मण कहते हैं। पं० बलदेव उपाध्याय ब्राह्मण ग्रंथों पर विचार करते हुए कहते हैं "इस प्रकार ब्राह्मणों में मंत्रों , कर्मों की तथा विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मण की अन्तरंग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक ही महनीय विश्वकोष है।"[1]

ब्राह्मण शब्द का अर्थ है- कि यज्ञ के विधि विधानों में कुशल विद्वान पुरोहितों द्वारा यज्ञों के अवसर पर प्रयोग की जाने वाली संहिता भाग की विधियों का संकलन। समष्टि रूप में इस शब्द का अर्थ है, यज्ञगत पुरोहितों के उच्चारणों एवं विवादों का संग्रह। इस प्रकार हम यह सहज ही निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि ब्राह्मण ग्रंथों की विषयवस्तु या सीधा संबंध वैदिक संहिताओं से है। मेरा अपना निजी विचार यह भी है कि विश्व के साहित्य में कर्मकाण्ड और याज्ञिक विधिविधानों का इतना सांगोपांग, स्वतंत्र तथा मौलिक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. पं० बलदेव उपाध्याय - वैदिक साहित्य और संस्कृति (पृष्ठ 239-240)

इन ब्राह्मण ग्रंथों में याज्ञिक विषयों पर उदीयमान समस्याओं का समाधान है इसलिए हम इन्हें यज्ञ विधान की संहिता ही कहें तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि यज्ञ का क्रिया कलाप भी स्वयं अपने में एक विज्ञान है। इस प्रकार यज्ञ विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रंथ ही ब्राह्मण हैं।

ब्राह्मण साहित्य के सर्वांगीण विवेचन करने पर हम इस समग्र साहित्य को दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं। एक विधि और दूसरा अर्थवाद, इसी संबंध में विचार करते हुए लिखा है" प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों के विषय कोहम विधि और अर्थवाद इन दो भागों में रख सकते हैं। विधि का अर्थ होता है नियम, और अर्थवाद का अभिप्राय है- प्रशस्तिपूर्ण व्याख्या। ब्राह्मण, गंथों में हमें अनुष्ठान विधि मिलती है और इन विधियों पर यज्ञकर्म, तथा प्रार्थनाओं के अर्थ और उद्देश्य के लिए भाष्य और व्याख्याएँ मिलती हैं। जैसा कि प्राचीन अनुसंधान शास्त्रियों को भी मान्य है"।[1]

शाबर स्वामी ने ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय सामग्री को इस प्रकार उद्धृत किया "यज्ञ का विधान क्यों किया जाय, कब किया जाय, कैसे किया जाय, किन साधनों से किया जाय, इस यज्ञ के अधिकारी कौन हैं और कौन नहीं, आदि विभिन्न विषयों का निर्देश इन ब्राह्मणग्रंथों में होता है।"[2]

- - - - - - - - - - - - - - -

1. वैदिक साहित्य की रूपरेखा -पाण्डेय एवं जोशी पृष्ठ 167

2. "हेतु निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना ।"
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु ।।
शाबर भाष्य -2·1·8

अर्थवाद में निन्दा तथा प्रशंसा का योग रहता है, योग में निषिद्ध एवं उपयोगी वस्तुओं की निन्दा एवं प्रशंसा, यज्ञीय विधि की सोपयुक्तता-अत: हेतु का निर्देश अनुष्ठेय विधि की दृष्टि से उपयुक्त होता है। अन्य सभी विषय उस यज्ञीय विधि के उप कारक, व्याख्या कारक तथा विधि को पूर्णता प्रदान करते हैं।

कर्मकाण्ड प्रधान इस युग में क्षत्रिय वर्ग यज्ञादि को करवाने वाले थे, और ब्राह्मण वर्ग ही इस कर्मकाण्ड को करने वाले थे, संभवत: यही कारण है कि जिस साहित्य में इनका संकलन किया गया है उसका नाम ही "ब्राह्मण" है। "ब्राह्मण" शब्द का तात्पर्य है- यज्ञ विधान के संदिग्ध स्थलों की किसी प्रामाणिक आचार्य द्वारा व्याख्या। ऋषि तो वे है जो मंत्रों के द्रष्टा थे, परन्तु आचार्य वे हैं, जो ब्राह्मणों के द्रष्टा है, कुछ ब्राह्मण तो अपने द्रष्टा ऋषियों से ही विख्यात हैं जैसे- गोपथ, ऐतरेय, शांखायन या कौषीतकि आदि।

इस प्रकार ब्राह्मणों के अर्थ को देखने से ही यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोश है।"[1]

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. "ब्राह्मण नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थ:"।

(भट्टभास्कर - तैत्तिरीय संहिता 1·5·1 भाष्य)

" ब्राह्मणों का रचनाकाल "

ब्राह्मण साहित्य में कालनिर्णय के संबंध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है। भाषा एवं वर्ण्य विषय का तुलनात्मक अध्ययन अन्य साहित्य में उपलब्ध संकेत तथा ज्योतिष संबंधी प्राप्त संकेत हमें गहन अन्धकार में मार्ग ढूंढने में प्रकाश के समान सहायता पहुँचाते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण प्राचीन माने जाते हैं। भारतीय विद्वान श्री भगवदत्त ब्राह्मण साहित्य को महाभारत कालीन मानते हैं।[1] शतपथादि ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर उन ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पाये जाते हैं जो महाभारत काल से कुछ पहले के थे। "शतपथ तथा ऐतरेय"[2] ब्राह्मण में दौषयन्ति भरत शानीक, शकुन्तका का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। ये महाभारत से कुछ काल पहले होने वाले व्यक्तियों के नाम हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत युद्ध से कुछ काल पहले के और भी व्यक्तियों के नाम ब्राह्मण ग्रंथ में मिलते हैं। शतपथ[3] ब्राह्मण में जनमेजय परीक्षित द्वारा यज्ञ किये जाने का विवरण मिलता है। "ऐतरेय"[4] ब्राह्मण में भी जनमेजय परीक्षित का उल्लेख पाया जाता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. द्रष्टव्य भगवतदत्त -"वैदिकवाङ्मय का इतिहास"।
2. शतपथ ब्राह्मण - 13·5·4, ऐतरेय -8·3।
3. शतपथ ब्राह्मण = 13,5,4,1-2।
4. ऐतरेय - 8,2।

"महाभारत" में प्राप्त उद्धरण से विदित होता है कि निश्चय ही ब्राह्मण में आई गाथा का जनमेजय परीक्षित महाभारत काल के पूर्व का था। प्रोफेसर घाटे महोदय जनमेजय को महाभारत काल का मानते हैं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण महाभारत काल के बाद की रचना हुई। परन्तु अन्य प्रमाणों पर ध्यान देने से पूर्व मत पर ही स्थित रह सकते हैं कि ब्राह्मण साहित्य महाभारत कालीन रचना है।

"महाभारत आदि-पर्व[1] में उल्लेख मिलता है कि वेदव्यास कु सुमन्तु जैमिनी, पैल और वैशम्पायन ये चार शिष्य थे, इन्हें ही व्यास ने वेद पढ़ाया था।" "कौशिकावृत्ति"[2] के वैशम्पायन का ही दूसरा नामचरक था तथा उनके नव शिष्य थे। इससे निर्विवाद यह माना जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रंथ महाभारत कालीन रचना है। शतपथ ब्राह्मण के संकलन कर्त्ता याज्ञवल्क्य महाभारत कालीन हैं। अनेक याज्ञवल्क्यों का होना भी सम्भव है। शतपथ तथा एतरेय ब्राह्मण का संकलन काल आसपास है। तैतिरीय ब्राह्मण के संकलन तितिर आचार्य, जैमिनीय ब्राह्मण के प्रवचनकर्ता तवलकार शाखा के व्यास शिष्य जैमिनी भी महाभारत कालीन थे। जैमिनीय ब्राह्मण की कुल हस्तलेख प्रतियों से विदित होता है कि वह मीमांसाकार व्यास के शिष्य थे। मीमांसा सूत्र ईसा के कई शताब्दियों पूर्व विद्यमान थे। ऐसा

---

1. महाभारत आदि पर्व - 130 -132
2. काशिका वृत्ति - 4.3.104

पूर्व तथा पाश्चात्य विद्वान भी मानते हैं। कौशिकसूत्र पद्धतिकार आथर्वणिक केशव ने भी मीमांसा भाष्यकार उपवर्ष का उल्लेख मिलता है। ये उपवर्ष पाणिनि के समवर्ती थे। पाणिनि का काल ईसा से 400 वर्ष पूर्व का माना जाता है।

सामवेद के ब्राह्मण छान्दोग्य के अन्तिम भाग छान्दोग्य-उपनिषद् में ऐतरेय महिदास का वर्णन आया है। ऐतरेय महीदास ऐतरेय ब्राह्मण के प्रवचन कर्ता माने जाते हैं। जैमिनीयोपनिषद्[1] ब्राह्मण में भी ऐतरेय महिदास का उल्लेख आया हुआ है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उनका भी संकलन महाभारत काल में हुआ था। सामविधान ब्राह्मण में उल्लिखित तालिका में पाण्ड और शाट्यायनि का वर्णन आया है।[2] ये हो आचार्य ताण्ड्य तथा शाट्यायन ब्राह्मणों के प्रवचन कर्ता हैं, ये आचार्य व्यास की परम्परा के कुछ पीछे के हैं। शतपथ ब्राह्मण[3] कार ताण्डयों से परिचित थे तथा ताण्डियो के वचन मान्य भी थे।

"ताण्ड्य" या "जैमिनीय ब्राह्मण" का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचजाते है कि पंचविंश ब्राह्मण जैमिनीय के बाद की रचना है। प्राय: दोनो का वर्ण्य विषय एक सा है, पंचविंश में गवामयन सूत्र जो सब यज्ञों की प्रकृति है, का वर्णन मिलता है। जब कि जैमिनीय ब्राह्मण में इस प्रकार के एकाह अहीन और सामों का

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. जैमिनीय ब्राह्मण - 2·113

2. सामविधान - 3·9·3

3. शतपथ ब्राह्मण - 6·1·2·25

उल्लेख सामान्य रूप से किया गया है। जैमिनीय ब्राह्मण में आख्यानों का विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। जबकि पंचविंश में संक्षिप्त रूप में उल्लेख पाया जाता है। डॉ० कैलैण्ड[1] महोदय ने भाषा और याज्ञिक दृष्टि से ब्राह्मणों की गम्भीरता पूर्वक आलोचना की है और वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि जैमिनीय ब्राह्मण पंचविंश ब्राह्मण की अपेक्षा प्राचीनतम है।

ब्राह्मणों का संकलन काल का अनुमान ज्योतिष संबंधी उल्लेखों के आधार पर लगाया गया है। "शंकर बालकृष्ण दीक्षित " ने शतपथब्राह्मण में मिले संकेत कृत्तिका नामक नक्षत्र की स्थिति के आधार पर ब्राह्मणकाल को 3000 ई० पूर्व का निश्चित किया और इसकी अन्तिम सीमा 1500 ई० पूर्व की मानी है। डा० विन्टरनित्ज ने अपने इतिहास ग्रंथों में जर्मन ज्योतिषी के गणनानुसार इस ग्रह स्थिति को 1100 ई० पू० में माना है। इन ज्योतिषी जी की व्याख्या है कि कृतिकाएँ अपने उदय के बाद बहुत देर तक पूर्व में दृष्टिगोचर होती थी, ऐसी दशा में 1100 ई० पू० में ही सिद्ध होती है।

"शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि अन्य नक्षत्र एक , दो, तीन या चार है, पर ये कृतिकाएँ बहुत सी हैं ये पूर्ण दिशा से विचलित नहीं होती और अन्य सब नक्षत्र पूर्व दिशा से च्युत हो जाते हैं"।[2] सभी एक मत से इसे मानते हैं कि यह दिशा उस काल में बताई गई थी, जब कि कृत्तिकाएँ पूर्व में ही उदित होती थी। क्योंकि यह नियम नही है कि एक ही नक्षत्र सदैव पूर्व में ही उगेगा। कोई तारा एक ही स्थान पर कालान्तर में इसकी दूरी बहुत अधिक हो जायेगी यह अन्तर लगभग साढ़े छः हजारवर्षों

तक बढ़ता जायेगा और अन्त में फिर साढ़े छः हजार वर्षों के बाद पुनः वह नक्षत्र अपने पूर्व स्थान पर उदित होगा। इस व्यवस्था से एक नक्षत्र के अपने पूर्व के स्थान पर उदित होनों में प्रायः 1300 वर्ष लग जायेंगे दीक्षित महोदय ने शतपथ ब्राह्मण के जिस भाग में ये वाक्य आये हैं उनका रचना काल शक पूर्व 3100 वर्ष के आसपास मानते हैं।

पाश्चात्य विद्वान कीबों[1], ओल्डनवर्ग प्रभृति महोदयों ने कृतिका से प्रारम्भ होने वाली सूचियों के सम्बन्ध में आपत्तियाँ उठायी हैं तथा अपने इस समर्थन में तर्क भी पेश किये हैं। उन्होंने सम्पात्रों को कृत्तिकाओं के साथ सम्बद्ध करने के विचार के विरुद्ध मत व्यक्त किया है। उनके विचार से कृतिकाएँ संयोग से नक्षत्रों को सूची में आरम्भ में रख दिया गया है।

संहिताओं में मासों की चैत्रादि संज्ञाएँ नहीं मिलती हैं, परन्तु पूरवर्ती ब्राह्मण जिनमें ये उल्लेख मिलते हैं, उनका संकलन ब्राह्मणयुग के अन्तिम चरण में हुआ था। शतपथ ब्राह्मण[2] में वैशाख को अमावस्या का उल्लेख मिलता है। शांखायन[3] ब्राह्मण में पौष की अमावस्या तथा माघमास का उल्लेख मिलता है, इसी प्रकार पंचविंश ब्राह्मण[4] में फाल्गुन मास का नामोल्लेख मिलता है। "दीक्षित महोदय के विचार से कौषीतकि शतपथ और पंचविंश ब्राह्मण तथा तैतिरीय ब्राह्मण के जिन भागों में मासों के नाम

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. कीबो - इंडियन एण्टीवेर -24/96 - ओल्डनवर्ग जेड·डी·एम·जी· 48,6,31,49,473,50,451,452, कीथ-जे0आर0ए0एस01909 ।

आये हैं, उनका रचना काल शकपूर्व 2000 और 1500 के मध्य में ही ठहरता है।

ब्राह्मण साहित्य में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है जिनमें फाल्गुन मास वर्ष का आरम्भ माना जाता था, क्योंकि फाल्गुन की पूर्णिमा को वर्ष का मुख कहा गया है, परन्तु इस संकेत में यह स्पष्ट नहीं होता है कि वर्ष का आरम्भ किस ऋतु में होता है। याकोबी ने शिशिर अयनान्त से वर्ष के प्रारम्भ को माना है। क्योंकि बाद के काल में इस प्रथा काप्रचलन था, यदि इस तर्क को माना जाय तो ब्राह्मण ग्रंथों का काल 4000ई0, पूर्व निकलता है। तिलक महोदय ने उक्त मत की ही पुष्टि की है। उनके विचार से वसन्त ऋतु का प्रथम मास होने के कारण फाल्गुन को वर्ष का मुख कहा गया है। ब्राह्मणों में वर्ष को चतुर्मास्यों के अनुसार तीन ऋतुओं में विभक्त करने कीप्रथा थी उसमें से एक ऋतु वसन्त थी, उनके अनुसार उनका मत कौषीतकि ब्राह्मण के अनुकूल ही है। कीथ महोदयानुसार 800 ई0पू0 के भारत में एक नवीन ऋतु के आरम्भ का समय मानना तर्क संगत प्रतीत होता है, इसके अनुसार ब्राह्मणों का काल 1200 ई0 पू0 अथवा उसके अधिक बाद का निकलता है। परन्तु यह तथ्य के निकटतम् नहीं प्रतीत होता है।

- - - - - - - - - - - - -

1. औरायन - 27

कौषितकि ब्राह्मण[1] में स्पष्ट संकेत मिलता है कि शिशिर अयनान्त माघ की अमावस्या पर होता था। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उस काल में अमान्तमास माने जाते थे अथवा पूर्णिमान्त। यदि अमान्त मास मानने की पद्धति थी तो ब्राह्मणों का काल ज्योतिष वेदांग के दिनांक से 1900 वर्ष अधिक प्राचीन हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मणों का काल लगभग 3100 ई0 पू0 से प्रारम्भ माना जायेगा। कीथ महोदय[2] के विचार से कौषीतकि ब्राह्मण का काल लगभग वही है जो शतपथ का है या उससे कुछ समय पूर्व का है। परन्तु यदि पूर्णिमान्त मास पद्धति माना जाय, तो पुन: वही 1200 ई0 पू0 का समय निकलता है। परन्तु यह मानना उचित प्रतीत नहीं होता है कि वेदांग ज्योतिष और ब्राह्मणोंका काल एक रहा होगा। सरविलियम जोन्स[3] ने मासों के व्यवहार पर विचार किया है। वेल्टके महोदयानुसार मासों का उल्लेख 1181 ई0 पू0 के पहले तो कदापि नहीं मानते। वेबर महोदय[4] का विचार है कि इस माध्यम से काल क्रम निश्चित करना सम्भव है, परन्तु ह्विटेन ने इसे असम्भव माना है। कीबो[5] महोदय भी इससे सहमत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूल रूप से

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. कौषितकि ब्राह्मण - 19/3
2. कीथ - ऋग्वेदीय ब्राह्मण, भूमिका, पृष्ठ 47-48
3. सर विलियम जोन्स-एशियाटिक रिसर्चेज -2/296
4. वेबर महोदय-एशियाटिक रिसर्चेज -2/347-348
5. कीबो- वैदिक इण्डेक्स - 1/437

यह शुद्ध है परन्तु सूक्ष्मतम से ध्यान देने पर यह तथ्य से दूर जानपड़ता है। दूसरी बात यह भी है कि हमें स्पष्टरूप से यह भी ज्ञात नहीं है कि सब ब्राह्मण एक ही समय की रचना हैं, अथवा एक ही ब्राह्मण के प्रत्येक अध्यायादि एक साथ संकलित किये गये थे अथवा नहीं।

वेदांग ज्योतिष का रचना काल 1500 ई0 पू0 है। सभी विद्वान इस विषय में एकमत हैं कि वेदांग ज्योतिष ब्राह्मणों के बाद की रचना है उपनिषदों की रचना वेदांगों से पूर्व हुई थी। इनका समय 2500 ई0पू0 से लेकर 1600 ई0 पू0 के बीच का है। ज्योतिष सम्बन्धी साक्ष्यों पर विचार करने के पूर्व ब्राह्मण साहित्य में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उसका काल महाभारत का काल सिद्ध किया गया है। महाभारत का रचना काल लगभग 3000 ई0पू0 का माना जाता है। ज्योतिष सम्बन्धी साक्ष्यों की विवेचना करने पर भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस प्रकार दोनों ही दृष्टियों से अन्त में एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्राह्मणों का रचना काल 2;000 ई0 पू0 से प्रारम्भ होकर लगभग 2000 ई0 पू0 तक था। ब्राह्मणों की अन्तिम रचना या अवधि इसलिए बढ़ा दी है, क्योंकि कुछ ब्राह्मणों में जैसे गोपथ में उपनिषदों का उल्लेख आया है। यही नहीं शतपथ, जैमिनीयोपनिषद, गोपथ — ब्राह्मण तथा छान्दोग्य ब्राह्मण के कुछ भाग भी उपनिषदों के नाम से विख्यात हैं। वृहदारण्यक, छान्दोग्य, केन, गायत्री, प्रणव प्रभृति उपनिषद्

इन ब्राह्मणों के ही अंग है। इनका संकलन लगभग 2500 ई0 पू0 के बाद ही हुआ है, इतने विशालकाय, अद्भुत ज्ञान संपूर्ण, कर्मकाण्डों की विशद विवेचना एवं आध्यात्मिक रहस्य की भावना से ओतप्रोत ब्राह्मण वाङ्मय को रचना के लिए 1,000 वर्षों का काल कुछ अधिक नहीं है, निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण साहित्य का रचना काल 3000 ई0 पू0 से लेकर 2000 ई0 पू0 तक का रहा होगा।

यह नि:सन्देह सत्य भी है कि जिस तरह वेदों के निर्माण एवं संकलन में शताब्दियाँ लगी हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण साहित्य भी सहस्र वर्षों के चिन्तन का परिणाम है। इस बात की पुष्टि हम सामवेद के एक ब्राह्मण में प्राप्त पचास गुरूओं के नामों के उल्लेख से कर सकते हैं। इन गुरूओं की लम्बी परंपरा को 1 हजार वर्षों का समय कम से कम दिया ही जा सकता है। वैसे जहाँ तक सन्देह की बात है वह तो वैदिकसाहित्य की ऐतिहासिकता पर भी लोग किये हैं। परन्तु यह किसी भी स्थित में स्वीकार करने योग्य नहीं है। पुन: हम इन आचार्यों के नामों का वर्णन दूसरे ग्रन्थों में भी देखते हैं। पुराणों में भी इन आचार्यों का नाम मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से हम तात्कालिक सामाजिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्र के उत्कर्ष का ज्ञान हमें होता है, यह उत्कर्ष काल वस्तुत: बौद्धकालीन है। क्योंकि परवर्ती साहित्य में ब्राह्मणों को अच्छी दृष्टि से कम ही देखा गया है। सत्य तो यह है कि बौद्ध धर्म ब्राह्मणों के उत्कर्ष के प्रतिक्रिया स्वरूप ही था। इस तरह अगर हम ब्राह्मण साहित्य के उदय एवं विकासकाल को 1,000 ई0

पूर्व से 600 ई0 पूर्व तक स्वीकार करें तो अनुपयुक्त न होगा, क्यों कि मैक्स-मूलर ने बौद्ध साहित्य (500 ई0पू0) से वैदिक साहित्य को पूर्ववर्ती ठहराया है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने बौध धर्म का उदय इसी समय में माना है। एक बात और यह भी है कि यह वह काल था, जब कि वैदिक साहित्य सर्वांशत: संकलित हो चुका था। उसके उपरान्त ही ब्राह्मण साहित्य का निर्माण माना भी जाना चाहिए।

" उपलब्ध तथा अनुपलब्ध ब्राह्मण "

ब्राह्मण साहित्य बड़ा ही विशाल था, परन्तु आज अनेक काल कवलित हो गये हैं, केवल उनका नाम तथा उद्धरण ही श्रोत ग्रन्थों में पाया जाता है। वैदिक वाङ्मय में उल्लिखित ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी प्रतीत होती है। परन्तु आजकल सब उपलब्ध नहीं हैं। प्रत्येक वेद में ऋषि परम्परानुसार अनेक सम्प्रदाय बने, प्रत्येक सम्प्रदाय अथवाशाखा के अपने संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक इत्यादि ग्रन्थ बने। यही कारण भी है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या अत्यधिक है। यह भी कि वैदिक साहित्य का कितना अंश तो ऐसा है जो सही अर्थों में ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मण कहा जाता है। जैसे-सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों में -साम विधान वंश, आर्षेय, संहितोपनिषद और अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण का नाम लिया जाता है। वास्तव में ये ब्राह्मण न होकर - वेदांग अधिक प्रतीत होते हैं। उपलब्ध अर्थात प्राप्त ब्राह्मणों की संख्या का निर्धारण इस प्रकार किया जा सकता है जो निम्नवत है-

ऋग्वेद - 1. ऐतरेय ब्राह्मण 2. शांखायन ब्राह्मण

शुक्लयजुर्वेद- 3. शतपथ ब्राह्मण,

कृष्णयजुर्वेद - 4. तैत्तिरीय ब्राह्मण

सामवेद - 5. ताण्ड्य 6. षड्विंश 7. सामविधान 8. आर्षेय 9. दैवत

10. उपनिषद् ब्राह्मण 11. संहितोपनिषद्, 12. वंशब्राह्मण

13. जैमिनीय ब्राह्मण

अथर्ववेद 14. गोपथ ब्राह्मण ।

उक्त ब्राह्मणों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

ऐतरेय ब्राह्मण :-

यह ऋग्वेद का प्रथम ब्राह्मण ग्रंथ है। इसमें 40 अध्याय हैं। प्रत्येक पाँच अध्यायों को मिलाकर एक पंचिका कहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ऐतरेय ब्राह्मण में 40 अध्याय, 8 पंचिका, 285 कण्डिकाएँ पायी जाती है। इसके रचयिता ऐतरेय महिदास माने जाते हैं। उन्हीं के नाम पर ही इस ब्राह्मण का नामकरण हुआ है। कीथ[1] महोदय इस पंचिका को प्रक्षिप्त मानते हैं। मैक्डानेल[2] महोदयानुसार ऐतरेय ब्राह्मण की अन्तिम तीन पंचिकाएँ पहली पाँच पंचिकाओं की अपेक्षा बाद की रचनाएँ हैं। भारतीय विद्वान मंगवस्त[3] का विचार इससे भिन्न है, उनके विचार से ऐतरेय महिदास अन्य ब्राह्मणके प्रवचन कर्ताओं के समान प्राचीन परम्परागत सामग्री में बहुत कम हस्तक्षेप करता था।

---

1. ऋग्वेदीय ब्राह्मण - पृष्ठ 24-कीथ

2. ए हिस्ट्री आफ दि लिटरेचर - पृष्ठ 191 -मैक्डानेल

3. वैदिक वाङ्मय का इतिहास पृष्ठ संख्या-6 मंगवद्त

ऐतरेय ब्राह्मण की प्रथम छः पंचिकाओं में सोमयाग का तथा अन्तिम दो पंचिकाओं मे राज्याभिषेक का वर्णन आया है। इस ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों की रचना परवर्ती मानी गयी है।

ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण है कौषीतकि या शांखायन । यह ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथम पाँच अध्यायों का ही परिवर्धित रूप है। शुरू के छः अध्यायों में विविध (अन्न, यज्ञ, अग्नि, होत्रयज्ञ, ऋतु यज्ञ) आदि का वर्णन है। सातवें से तीसवें अध्याय तक ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित सोमयज्ञ का विस्तृत वर्णन है। इस ब्राह्मण की मुख्य विशेषता आख्यानों की अपनी सत्ता है। इस ब्राह्मण के तृतीय अध्याय की सातवीं पंचिका में शुनः शेप एवं ऐतरेय ब्राह्मण का आख्यान वर्णित है।

सामवेद में ब्राह्मणों की संख्या अनेक है तथा अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक है। इसकी दो शाखाएँ हैं- ताण्डिन तथा तवल्कार अथवा जैमनीय ताण्ड्य या महा अथवा पंचविंश ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण एवं छान्दोग्य अथवा मन्त्र ब्राह्मण ताण्डिन् शाखा से संबंधित ही है। ताण्ड्य ब्राह्मण को पन्चविंश ब्राह्मण भी पचीस अध्यायों की रचना के कारण कहा जाता है। इसमें सामान्यतः सोमयज्ञ का वर्णन मिलता है, एक दिन से लेकर वर्षों तक चलने वाले यज्ञों की इसमें चर्चा पायी जाती है, इस ब्राह्मण की विस्तृत व्याख्या आगे के अध्यायों में की जायेगी।

सामवेद का दूसरा ब्राह्मण है- षड्विंशब्राह्मण -यद्यपि रचना की दृष्टि से यह पूर्णतः स्वतन्त्र होते हुए तांड्य ब्राह्मण का अंग भूत ब्राह्मण

स्वीकार किया जाता है। इसमें इन्द्रजाल तथा अलौकिक घटनाओं का उल्लेख पाया जाता है।इस ब्राह्मण में हास्य एवं रोदन का भी संकेत देखने को मिलता है। इस ब्राह्मण के प्रथम चार अध्यायों का याज्ञिक दृष्टि से भी है। इस ब्राह्मण पर सायणाकृत भाष्य भी मिलता है। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में प्रपाठक संज्ञा को न लिखकर अध्याय ही लिखा है।

तीसरा ब्राह्मण है-छान्दोग्य , इसे मन्त्र ब्राह्मण तथाउप-निषद् ब्राह्मण भी कहते हैं। यह ब्राह्मण 10 प्रपाठकों में विभक्त है। यह ब्राह्मण गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मंत्रों का एक सुन्दर संग्रह है। यह ब्राह्मण ताण्ड्य शाखा से संबधित है। शंकराचार्य[1] ने ब्रह्म भाष्य में छन्दोग्य ब्राह्मण एवं छान्दोग्यउपनिषद् को ताण्ड्य शाखा से संबंधित माना है।भारतीय विद्वानों का विचार है कि ताण्ड्य शाखा का ब्राह्मण 40 प्रपाठक का एक वृहद् ब्राह्मण था।

पंचविंश के 25 प्रपाठक

षडविंश के 05 प्रपाठक

छान्दोग्य के 02 प्रपाठक

छान्दोग्य उपनिषद् के 8 प्रपाठक

- - - - - - - - - - - - - -

1. ब्रह्मसूत्र - 3/3/25

सामवेद का चौथा ब्राह्मण है- दैवत् - इस ब्राह्मण को अग्नि ब्राह्मण नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह छोटा सा ग्रन्थ है, इसमें तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड कण्डिका-ओं में बंटा हुआ है। छन्दों का उल्लेख इसमें प्रधान रूप से किया गया है। प्रथमखण्ड में सामवेद के देवताओं का नाम निर्देश तथा उनकी प्रशंसा में गाये सामों के विशिष्ट नामों का निर्देश किया गया है। द्वितीय खण्ड में छन्दों के देवता तथा वर्णो का वर्णन है। तीसरे खण्ड में छन्दों की निरुक्तियाँ दी गई हैं। सायणाचार्यकृत भाष्य मात्र ही इस ब्राह्मण पर उपलब्ध है।

पाँचवा ब्राह्मण है- आर्षेय ब्राह्मण- यह ताण्ड्य की अपेक्षा प्राचीन रचना है। इसमें पाँच मण्डक हैं। प्रथम तीन मंडलों में यज्ञ विधि का वर्णन है।

जैमिनीय ब्राह्मण के नाम से एक अन्य ब्राह्मण भी पाया जाता है। यह ब्राह्मण: बड़ौदा के सूचीपत्र भाग प्रथम्पृष्ठ 105 मे सम्मिलित है।

छठवाँ ब्राह्मण है संहितोपनिषद्- यह छोटा ब्राह्मण है। इसमें मात्र पाँच खण्ड हैं। कुछ पुराने ब्राह्मणवाक्यों और श्लोकों आदि का यह संग्रह मात्र है। इस ब्राह्मण में सामगायन से उत्पन्न होने वाले प्रभाव का वर्णन है। इसके साथ ही साथ साम और सामयोनि मंत्रों तथा पदों के परस्पर सम्बन्धों का भी विवेचन है।

सातवां ब्राह्मण है सामविधान ब्राह्मण- "कुमारिल भट्ट" के अनुसार निर्दिष्ट आठ ब्राह्मणों में से यह अनन्यतम् रचना है। वास्तव में इसकी विषय सामग्री ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित सामग्री से नितान्त भिन्न है। इसमें जाड्येनाशत्रु विनाश, धनोपार्जन तथा नाना प्रकार के उपद्रवों को शान्ति के लिए साम-गायन के साथ कुछ अनुष्ठानों का विधान है। इस ब्राह्मण के तीन प्रकरण हैं। इस प्रकार हमें इसके नूतन रचना होने का कुछ आभास तो मिल ही जाता है।

सामवेद का आठवाँ ब्राह्मण है-"वंश ब्राह्मण" - यह ब्रह्नण छोटा है, इसमें सिर्फ तीन खण्ड है। इसमें सामवेद के आचार्यों को वंशपरम्परा दी गई है। इस पर सायण कृत भाष्य उपलब्ध है। नवाँ ब्राह्मण जैमिनीय तथा दसवाँ ब्राह्मण जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण है।

"यजुर्वेद के ब्राह्मण"

यजुर्वेद के दो भेद हैं- शुक्ल और कृष्ण। दोनों ही शाखाओं से सम्बिन्धित ब्राह्मण उपलब्ध है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित शतपथ ब्राह्मण सबसे अधिक विस्तृत तथा यज्ञानुष्ठान का अच्छा सा प्रतिपादक ग्रन्थ है। शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं -माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओं में यह ब्राह्मण उपलब्ध है। माध्यन्दिन शतपथ के काण्डों की संख्या 14, अध्याय 100 प्रपाठक 68, ब्राह्मण 438 तथा कण्डिकाएँ 7624 हैं। काण्डव शतपथ में प्रपाठक नामक उप खण्ड का अभाव है। इसमें काण्ड -17 • अध्याय 104, ब्राह्मण 435

और 6806 कण्डिकाएँ हैं। विन्टरनित्ज[1] महोदय के विचार से माध्यन्दिन शाखा का ही शतपथ ब्राह्मण सम्भवतः शतपथ की प्राचीनता का मूल रूप है। वास्तव में देखा जाय तो हमें यह जानकारी मिलती है कि काण्व शाखा का कलेवर माध्यन्दिनशाखा को अपेक्षा छोटा है।

"तैत्तिरीय ब्राह्मण"

यह शतपथ की भाँति प्राचीनतम रचना है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है जिन्हें काण्ड कहते हैं। प्रथमकाण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रवृष्टि तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीयकाण्ड में अग्निहोत्र, सौत्रामणि, वृहस्पतिसव, वैश्यसव आदि। तृतीयकाण्ड अर्वाचीन रचना है जिसमें नक्षत्रेष्टि का विवेचन किया गया है, उसमें पुरुषमेध का विवेचन है।

"शतपथ ब्राह्मण"

यह शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण है। यह ग्रन्थों में शीर्ष स्थान पर है। शतपथ ब्राह्मण सर्वाधिक प्रसिद्ध स्पष्ट विषयवस्तु युक्त एवं महत्वपूर्ण है। वास्तव में इस ब्राह्मण में सौ अध्याय होने के कारण ही इसे शतपथ ब्राह्मण नाम से अभिहित किया गया है। शतपथ के प्रथम पाँच काण्डों में याज्ञवल्क्य का नाम निर्देश भी नहीं है एवं आचार्य शाण्डिल्य ही सर्वोपरि प्रमाण माने गये हैं। शाण्डिल्य को ही अग्नि रहस्य का प्रवक्ता माना गया है। शेष चारों अध्यायों में याज्ञवल्क्य ही प्रमुख हैं तथा शतपथ ब्राह्मण के कर्ता माने गये हैं।

शतपथ ब्राह्मण को वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के बाद महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वाजसनेयी संहिता की भाँति इसकी भी दो शाखाएँ है काण्व एवं माध्यन्दिनीय। 100अध्यायों का विभजन 14 काण्डों में है। इसके प्रारम्भिक नौ काण्ड यजुर्वेदोय वाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की विस्तृत व्याख्या है। यह अंश अन्तिम पाँच अध्यायों में प्राचीन है। आचार्य शाण्डिल्य दसवें काण्ड में वर्णित अग्नि रहस्य के उपदेशक हैं। ग्यारहवें से लेकर तेरहवें काण्ड उपनयन स्वाध्याय, अन्त्येष्टि ,अश्वमेध,पुरुषमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का तथा चौदहवें काण्ड में प्रवर्ग्य उत्सव का वर्णन है। इसी काण्ड के अन्त में हम उस महत्वपूर्णवृहदारण्यक उपनिषद को,पाप्त करते हैं जो दार्शनिक तत्व ज्ञान के लिए अन्यतम है।

वर्ण विषयों के विस्तार विचार तथा विवरण के कारण शतपथ ब्राह्मण ब्राह्मण साहित्य का मुकुट मणि माना जाता है। इस ब्राह्मण में अनेकों आख्यान तथा उपाख्यान मिलते हैं, जो बाद के काल में अनेकों पुराणों,महाकाव्यों एवं नाटकों के वर्ण्य विषय बने हैं । जैसे-उर्वशी-पुरूरवा आख्यान, दुष्यन्तशकुन्तला आख्यान,मनु को जल्म प्लावन की कथा इत्यादि। ऐतिहासिकता को दृष्टि से भी इसका स्थान सर्वोपरि है।

"अथर्ववेदीय ब्राह्मण"

अथर्ववेद का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण जिसका नाम है-गोपथ ब्राह्मण। इसके दो भाग हैं-पूर्व गोपथ तथा उत्तर गोपथ। प्रथम भाग में पाँच अध्याय हैं, द्वितोय भाग में 6 अध्याय हैं। प्रत्येक भाग प्रपाठक या अध्यायों

में विभाजित है। प्रपाठकों का विभाजन कण्डिकाओं में हुआ है। मैक्डोनल महोदय के विचार से गोपथ ब्राह्मण के पूर्वार्द्ध को शेष (1.2.5) भाग प्राय: शतपथ ब्राह्मण के अध्याय से परिगृहीत है, और कुछ विषय ऐतरेय ब्राह्मण से भी लिया गया है। वस्तुत: यह ब्राह्मण ग्रन्थ बहुत बाद को रचना माना जाता है। इस ब्राह्मण में अथर्ववेद की महिमा का गान है और ब्रह्म पुरोहित के क्रिया कलापों का मुख्यतया विवरण हमें देखने को मिलता है। इस ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक में ओंकार तथा गायत्री को महिमा का सुन्दर वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के नियमों का, तृतीय में यज्ञ के चारों ऋत्विजों का, चतुर्थ में ऋत्विजों को दीक्षा तथा पंचम प्रपाठक में संवत्सर सत्र का विवरण किया गया है। गोपथ ब्राह्मण के रचयिता गोपथ नामक ऋषि हैं। अथर्ववेदीय ऋषियों की नामावली में गोपथ का नाम देखने को मिलता है।

सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर सहज पहुँचते हैं कि ऋग्वेद के ब्राह्मण "होता" के कार्यों की विशेष व्याख्या करते हैं। सामवेदीय ब्राह्मण "उद्गाता" नामक ऋत्विज् के कार्यों के व्याख्याता है। यजुर्वेदीय ब्राह्मण "अध्वर्यु" के कर्मकाण्ड की व्याख्या करते हैं और अथर्व के ब्राह्मण सभी ब्राह्मणों की विषय सामग्री एवं ऋत्विज के कार्यों के व्याख्याता हैं तथा उसे अपना लेता है। वैसे भी "ब्रह्मा" नामक ऋत्विज् का कार्य भी सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण ही है। कुल मिलाकर इन

ब्राह्मणों को देखने से विदित होता है कि इनमें पारस्परिक अन्तर होते हुए भी काफी हद तक पारस्परिक समानता भी देखने को मिलती है।

"अनुपलब्ध" ब्राह्मण साहित्य -

ब्राह्मणों का साहित्य अति विशालतम है। परन्तु आज अनेक ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है। उनके उद्धरण या नामों का उल्लेख ही मिलता है। श्री भगवतदत्त ने अपने ग्रंथ वैदिक कोष की भूमिका में अप्रकाशित या लुप्त ब्राह्मणों पर विचार किया है। "डॉ0 वटकृष्ण घोष" ने ऐसे अनुपलब्ध ब्राह्मणों के उपलब्ध उद्धरणों को प्रकाशित करने का प्रयास किया है। जिनमें संक्षिप्त विवरण हम इस प्रकार दे रहे हैं-

"यजुर्वेदीय ब्राह्मण- चरक ब्राह्मण :-

यह कृष्ण यजुर्वेद की प्रधान शाखा चरक से सम्बद्ध हैयह प्रमाण काठक संहिता 36/6 में भी हमें मिलता है। सायणाचार्य द्वारा भी इसका उल्लेख किया गया है, यह इस बातका प्रमाण है कि उनके काल तक इसका स्तित्व था, मगर कालान्तर में समाप्त हो गया।

"श्वेताश्वर ब्राह्मण"-

श्वेताश्वर उपनिषद् इसी के आरण्यक का एक भाग मालूम होता है।

"काठक ब्राह्मण"

तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के अन्तिम तीन प्रपाठकों को भी कठ या काठक ब्राह्मण कहते हैं। कुछ लोग काठक संहितान्तर्गत इसे भी मानते हैं।

"मैत्रायणी ब्राह्मण"-

मैत्रायणी संहिता से सम्बद्ध कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण नहीं मिलता है। "बौद्धायन श्रौत सूत्र में इसका वर्णन आया है"।[1] वास्तव में मैत्रायणीय उपनिषद् का अस्तित्व भी इसी बात को पुष्टि करता है कि अवश्य ही मैत्रायणी शाखा का अपना अलग ब्राह्मण रहा होगा। पुन: खाण्डिकेय ब्राह्मण औरवेय ब्राह्मण, "जाबाल ब्राह्मण", "चारिद्रविक ब्राह्मण" (चरण व्यूह में निर्दिष्ट यजुर्वेद की शाखान्तर्गत) आध्वकरक ब्राह्मण, गालव ब्राह्मण इत्यादि हैं। इसके बाद सामवेदीय ब्राह्मणों का भी वर्णन मिलता है।

"माल्लवि ब्राह्मण"-

इसका वर्णन शंकर वेदान्त सूत्र भाष्य 3•3•26 में भी मिलता है।

"शाट्यायन ब्राह्मण"-

अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके 70उद्धरण आज भी उपलब्ध होते हैं। जो ऋग्वेद के सायणभाष्य 1/105×110, 7/33/7, 8/91/5 तथा ताण्ड्य ब्राह्मण के सायण भाष्य -4/2/10, 4/3/2, 4/5/10, 4/6/23 में मिलते हैं। ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य - 3/3/25, 3/3/36, 4/1/16, 4/1/17 में हमें देखने को मिलते हैं। इससे इस ग्रन्थ का महत्व स्वयमेव् स्पष्ट हो जाता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1• बौद्धायन श्रौत सूत्र -30/8

कालवविधिब्राह्मण-

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र 20/4/9 में उद्धृत है। रौरुकी ब्राह्मण- रौरुकी ब्राह्मण का वर्णन गोभिलगृह्यसूत्र 3/2/5 में है। इसके अतिरिक्त निम्न ब्राह्मण भी आते हैं-

तुम्बरू ब्राह्मण, आरुणेय ब्राह्मण, सौलभ ब्राह्मण, शैलाली ब्राह्मण, पराशर ब्राह्मण, पौंगि ब्राह्मण, माषशरावि ब्राह्मण इत्यादि हैं।

अगर हम समस्त मतों को देखें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामवेद के ताण्डिन् शाखा से सम्बद्ध आठ ब्राह्मण प्राच्य एवं पश्चात विद्वानों के एकमत होने से प्रतिष्ठाप्राप्त है। पाश्चात्यविद्वान "मैक्डानेल महोदय[1] सामवेद की दो स्वतंत्र शाखाएँ ताण्डिन तथा जैमिनीय माना है। बेवर महोदय[2] का विचार सायणाचार्य से भिन्न प्रतीत होता है वह पंचविंश, षडविंश तथा छान्दोग्य को सामवेद से सम्बद्ध मानते हैं।" विन्टरनित्ज महोदय[3] ने सामवेद से सम्बद्ध केवल दो ब्राह्मणों का नाम दिया हुआ है-ताण्ड्य तथा षडविंश तथा एक तीसरे ब्राह्मण का उल्लेख है, जिसके बहुत कम सामग्री इस वक्त मौजूद है"।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. मैक्डानेल - संस्कृत साहित्य का इतिहास; पृष्ठ 194-5 (हिन्दी)

2. वेबर - वैदिक लिटरेचर पृष्ठ 74-75

3. विन्टरनित्ज - प्राचीन भारतीय साहित्य- पृष्ठ 155-156

" ब्राह्मणों का महत्व "

ब्राह्मण काल की संस्कृति में वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड परमोत्कर्ष को प्राप्त कर चुका था, कर्मयज्ञ मानव मात्र का अनुष्ठेय बन चुका था। ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठानों के विशाल सूक्ष्मतम् वर्णन को आजतक का आलोचक भले ही नगण्य दृष्टि से देखने की भूल करें, परन्तु वे जो अतीत की संचित निधि हैं। जो वैदिक युग के क्रियाकलापों का एक भव्य चित्र धर्ममीमांसक के लिए आज भी प्रस्तुत कर रहे हैं। अस्तु, वह भी अब भी, उतना ही उपादेय ग्रहणीय , मननीय है। भारतीय धर्म के इतिहास में श्रौत विधानों का एक विचित्र युग तो था ही। उस युग को अपने पूर्ण सौंदर्य तथा सौष्ठव के साथ आज भी उपस्थित करने का श्रेय अगर किसी को है तो वह ब्राह्मण ग्रन्थों को ही है। इसी क्रम में "मैक्समूलर"की दृष्टि में "भारतीयों के लिए भले ही इनका कुछ महत्व हो, किन्तु भारतीय धर्म एवं संस्कृति पर जिसकी आस्था नहीं है, उसके लिए निरर्थक ही हैं। यह मत बिल्कुल ही निरर्थक है, ब्राह्मणों की उपादेयता से कोई व्यक्ति इंकार नहीं कर सकता है।

क्रमशः समय ने पलटा खाया, युगों ने करवट बदली। भक्ति आंदोलन की व्यापकता के कारण वैदिक कर्मकाण्ड का ह्रास हो गया। श्रौत यज्ञविधान आज अतीत की स्मृति मात्र है। वैदिक कर्मकाण्ड से लोगों की आस्था धीरे-धीरे उठती गई। फलतः न तो कहीं श्रौत याग ही होते हैं, न उन अनुष्ठानों को साक्षात करने का अवसर ही कभी प्राप्त होता है। यही कारण भी है, कि आज ब्राह्मणों के क्रियाकलापों को ठीक-ठीक हृदयंगम करना एक खास समस्या है, परन्तु वे यज्ञ सम्बंधी बकवास हैं यह किसी

भी दशा में उचित नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यज्ञादि का जितना सुन्दर एवं शुद्ध व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके भीतर भी एक तथ्य है और तथ्य को खोलने को कुंजी है श्रद्धामय अनुशीलन और अन्तरंगदृष्टि , हाँ बहिरंग दृष्टि वालों के लिए तो "ब्राह्मण" ऊटपटांग अंडबंड के सिवाय और हो ही क्या सकता है।

ब्राह्मण कालीन समय में यज्ञ याग के अनुष्ठानों के विषय को लेकर विद्वतमंडली में शास्त्रार्थ होता था, "मीमांसा" जैसे शास्त्र को उत्पत्ति इस युग में हो गयी थी, मीमांसा हमारा प्रथम दर्शन तथा मीमांसक ही हमारे प्रधान दार्शनिक हैं। ब्राह्मणों में यज्ञीय विषयक मीमांसकों को "ब्रह्मवादी" की संज्ञा से अभिहित किया गया है। "ताण्ड्य महाब्राह्मण" में "एवं, ब्रह्मवादिनो वदन्ति" द्वारा अनेक यज्ञीय गुत्थियों के सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।[1] दूसरी ओर हमें शतपथ ब्राह्मण में भी ऐसे ब्रह्मवादियों के दर्शन होते हैं। इसे हम "दीक्षा से पूर्व दिन भोजन करने अथवा न करने के प्रश्न को लेकर सावयस आषाढ़ नाम के आचार्य तथा याज्ञवल्क्य के बीच गहरी मीमांसा उपलब्ध होती है"।[2] आषाढ़ आचार्य का मत अनशन को ही व्रत मानने के पक्ष में था, परन्तु इस मत की आलोचना करके याज्ञवल्क्य ने सिद्ध किया कि भोजन करना चाहिए, परन्तु अरण्य में उत्पन्न होने वाले व्रीहि ,यव

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्डय ब्राह्मण - 6/4/15

2. शतपथ ब्राह्मण - 1/1/1/7-10

शमीधान्य आदि पदार्थों का हो। "मीमासन्ते" इस क्रियापद का तथा "मीमांसा जैसे संज्ञापद का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुलता से प्राप्त होता है।"[1]

ब्राह्मण ग्रंथो का अध्ययन एवं मनन करने पर हम सहज ही देखते हैं कि इनसे यज्ञों के विविध रूपों तथा विभिन्न अनुष्ठानों के इतिहास का पूर्ण परिचय देता है। इन ग्रन्थों में यज्ञ एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में हमारे सामने आता है। खूबसूरत आख्यानों का संग्रह हमें ब्राह्मण ग्रंथों में ही मिलता है, जिनका विकास अवान्तर कालीन पुराणों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। यज्ञ की आवश्यकता की पूर्ति का साधन इन ब्राह्मण ग्रन्थों को ही अगर माना जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। पाण्डेय एवं जोशी ने ठीक ही लिखा है"भारतीयों के पीछे के काम के सम्पूर्ण धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य के ज्ञान के दृष्टिकोण से ब्राह्मण ग्रन्थ अत्यन्त ही उपादेय है, और एक धर्म के विज्ञान के इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को या किसी भी व्यक्ति को अत्यन्त ही आनन्द प्रदायक भी है, "ये ब्राह्मण ग्रन्थ पौरोहित्य धर्म के इतिहास के लिए धर्म के विद्यार्थी के पास बहुमूल्य प्रमाण है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि प्रार्थना के इतिहास के लिए यजुर्वेद की संहिताएँ बहुमूल्य प्रमाण है।"[2]

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. "उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमासन्ते ब्रह्मवादिन इत्याहु:उत्सृज्यामेनेति"-तैतरीय संहिता 7/5/7/1
2. वैदिक साहित्य की रूपरेखा -"पाण्डेय एवं जोशी"-पृ0 55

द्वितीयोऽध्याय:

ताण्ड्य महाब्राह्मण

"ताण्ड्य महाब्राह्मण"

सामान्य पृष्ठभूमि

यह सामवेद से सम्बन्धित ब्राह्मण है, सामवेद से सम्बन्धित ब्राह्मणों की संख्या अन्य वेदों के ब्राह्मणों से अधिक है। वस्तुत: सामवेद की दो शाखाएँ हैं-"ताण्डिन्" तथा तवलकार अथवा " जैमिनीय"। दोनों ही शाखाओं से सम्बन्धित ग्रन्थ उपलब्ध है। ताण्ड्य ब्राह्मण या "महा" या पंचविंश ब्राह्मण, षडविंश ब्राह्मण एवं छान्दोग्य अथवा मंत्र ब्राह्मण ताण्डिन् शाखा से सम्बद्ध है। "मैक्डानेल" महोदय के अनुसार "तवलकार" अथवा जैमिनीय ब्राह्मण में पाँच अध्याय हैं। इसके पहले तीन अप्रकाशित अध्याय यज्ञीय विधियों के विविध अंशों का मुख्यत: प्रतिपादन करते हैं। चौथे अध्याय की संज्ञा "उपनिषद ब्राह्मण" है, जो शायद रहस्य के अर्थ का प्रतिपादन करने वाला ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण में आरण्यक की भाँति रूपकात्मक उक्तियाँ मिलती हैं। साथ ही गुरूओं की दो परम्पराओं का भी वर्णन है। पाँचवे अध्याय की संज्ञा "आर्षेय ब्राह्मण" है, जिसमें सामवेद के रचयिताओं की संक्षिप्त परिगणना है। यदि हम उनके विचार को मानते हैं तो हमें सम्पूर्ण "तवलकार ब्राह्मण" तीन खण्डों में विभक्त, तीन भिन्न नामों में मिलता है। "जैमिनीय ब्राह्मण" भी तीन अध्यायों में है, और उपनिषद् -ब्राह्मण एवं आर्षेयब्राह्मण पहले से ही प्राप्त थे।

संक्षेप में सामवेद के प्रकाशित ब्राह्मणों की जानकारी इस प्रकार की जा सकती है -सामवेद के ब्राह्मण आठ भागों में प्रकाशित हुए हैं। सभी पर सायण का प्रामाणिक भाष्य है। 1874 ई0 में सायण भाष्य के सहित ए0सी0वेदान्त वागीश ने "ताण्ड्य ब्राह्मण" या पंचविंश ब्राह्मण को कलकत्ता से प्रकाशित करवाया। षडविंश को "के क्लेम" ने और एच0एस0एलसिंग ने क्रमश: 1894 तथा 1908 में प्रकाशित करवाया। 1890 में "मन्त्रब्राह्मण" को सत्यव्रत सामश्रयी ने प्रकाशित

करवाया। 1858 में "छांदोग्यपनिषद् ब्राह्मण" को वेबर ने बर्लिन से प्रकाशित करवाया। 1889 में "छांदोग्यपनिषद् ब्राह्मण" को ओ0वोटलिंग ने छपवाया। दैवत ब्राह्मण को 1873 में बर्नेल ने, और दूसरा संस्करण सत्यव्रत सामश्रयी ने निकलवाया। बर्नेल ने "आर्षेय ब्राह्मण" को भी छपवाया। "आर्षेय" को कैलेण्ड ने भी छपवाया। "वंशब्राह्मण" को बंगला अनुवाद के सहित सामश्रमी जी ने तथा उसी का दूसरा संस्करण वेबर ने और तीसरा संस्करण 1873 में बर्नेल ने प्रकाशित करवाया। "संहितोपनिषद्" को 1877 में बर्नेल ने तथा "सामविधान ब्राह्मण" को 1873 में सायणभाष्य सहित "बर्नेल" ने प्रकाशित करवाया।

"बर्नेल" ने 1878 में "जैमिनीय-आर्षेय -ब्राह्मण" को और 1921 में एच0एर्टल ने "जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण को प्रकाशित करवाया। "जैमिनीय आर्षेय" ब्राह्मण का एक डच भाषा का संस्करण भी कैलेण्ड ने छपवाया।

वस्तुत: सामवेद की तीन संहिताएँ उपलब्ध मिलती हैं। जिनमें क्रमश: कौथुमीय, जैमिनीय, राणायणीय हैं। प्रथम कौथुमीय संहिता के ब्राह्मण ग्रन्थ चालीस अध्यायों में विभक्त हैं। इन चालीस अध्यायों में विभाजित पाँच ब्राह्मणों के नाम है-"ताण्ड्य ब्राह्मण" या "पंचविंश ब्राह्मण", "षड्विंश ब्राह्मण", अद्भुत ब्राह्मण" मंत्र ब्राह्मण और पाँचवा है "छान्दोग्य ब्राह्मण"। प्रथम पच्चीस अध्यायों को "पंचविंश ब्राह्मण" , इक्कीस से तीस तक छ: अध्यायों को "षड्विंश ब्राह्मण " तीसवें अध्याय के अंतिम भाग को "अद्भुत् ब्राह्मण" इक्कीस से बत्तीस तक दो अध्यायों को "मंत्र ब्राह्मण" और अन्त के आठ अध्यायों को "छान्दोग्य ब्राह्मण" कहते हैं। "छान्दोग्य ब्राह्मण" का एक अंश "दैवत ब्राह्मण" के नाम से भी प्रचलित है। छान्दोग्य ब्राह्मण ही "छान्दोग्यउपनिषद्" भी है।

"ताण्ड्य ब्राह्मण" का अर्थ-

पंचविंश ब्राह्मण का दूसरा नामकरण इसलिए हुआ कि इसको "ताण्डि" नामक ऋषि के वंशजों एवं शिष्यों ने प्रचरित एवं प्रसारित किया था। इसलिए इसे "ताण्ड्य ब्राह्मण" के नाम से जाना जाता है। "ताण्ड्य" शाखा का ब्राह्मण होने के कारण ही यह "ताण्ड्य" नाम से प्रसिद्ध है। "पंचविंश" नाम, इसमें पच्चीस अध्याय होने के कारण है। चूँकि सामवेद का यह मुख्य ब्राह्मण है, और आकार में अन्यों से बड़ा है, इसलिए "महाब्राह्मण" के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। रचना की दृष्टि से यह "प्रौढ़" एवं प्राचीनतम् है, इसलिए इसे "प्रौढ़" ब्राह्मण भी कहते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में सोमयागों का ही वर्णन है। "एकाह" "अहीन" एवं "सत्रों" का वर्णन इस ब्राह्मण में है। इसमें एक दिन सेलेकर हजारों वर्षो तकचलने वाले सत्रों का भी वर्णन है।

ऐतिहासिक एवं भौगोलिक दृष्टि से अध्ययन करने वाले के लिए भी इसका अत्यधिक महत्व है। इसमें ब्राह्मणों के प्राचीनतम् आख्यान भी संग्रहीत हैं। अनेक सामों का नामोल्लेख और तत्सम्बन्धित लघु आख्यानों का भी निर्देश दिया गया है। वस्तुतः इन्हीं आख्यानों का सविस्तार वर्णन जैमिनीय ब्राह्मण में मिलता है। अत्यन्त मनोरंजक ढंग से यज्ञ विधानों को समझाया गया है। यज्ञानुष्ठानों में उद्गाता के कार्यों की विस्तृत मीमांसा इस ब्राह्मण में दृष्टव्य है। इसमें यज्ञ के प्रधान विषयों को लेकर विभिन्न मतों का उल्लेख बहुशः प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का खण्डन कर स्वाभीष्ट मतों की स्थापना सुन्दर ढंग से की गयी है।[1] इस ब्राह्मण का सविशेष अंश है "व्रात्यस्तोम"।

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य महा ब्राह्मण - 14/5/8, 15/12,5

इसमें समाजशास्त्र विषयकसामग्री भी भरपूर है। सायणाचार्य इसके प्रमुख भाष्यकार और हरिस्वामी प्रधान वृत्तिकार हुए।

" वर्ण्य विषय"

"ताण्ड्य महा ब्राह्मण" के ही अन्तर्गत "यज्ञानुष्ठानों" में "उद्गाता" के कार्यों की विपुल मीमांसा इसे और महनीय बना दिया है। यज्ञ के विविध रूपों का - एक दिन से लेकर सहस्र संवत्सर तक चलने वाले यज्ञों का -एकत्र प्रतिपादन इस महाब्राह्मण में है। इस "महाब्राह्मण" को चूँकि पच्चीस अध्यायों में विभक्त किया गया है। इसलिए इसका संक्षेप में सम्पूर्ण अध्यायों को वर्ण्य विषय को संक्षेप में ही प्रस्तुत किया जयेगा, अन्य अध्यायों को विस्तृत विवेचन किया जायेगा, जो यज्ञ संस्था तथा "सांस्कृतिक अध्ययन" नामक अध्याय मेंदेखा जा सकेगा तो इसका सारांशत: वर्ण्य विषय इस प्रकार है-

"प्रथम अध्याय" में हम देखते हैं कि अध्वर्यु होत्र यज्ञ में ब्रह्म नाम ऋत्विक् का वरण करता है। उदगाता देवयत्यस्थल पर जप मंत्र के साथ जाता है। पुन: आगे बताया गया है कि प्रात: काल उद्गाता द्वारा वेदवाचन करना चाहिए। पुन: उद्गाता द्वारा हवि डालने के विषय में बतलाया गया है। उद्गाता द्वारा मन्त्रों-च्चारणपूर्वक सोमका स्पर्श करना चाहिए। पुन: बताया गया है कि "हल धोकर साधन के साथ प्राविश्य भूमि का स्पर्श करना चाहिए।उद्गाता दोनों को साथ -साथ प्राविश्य ; के समय धारा ग्रहण के समय मंत्र पढ़ता है। पुन: उद्गाता के स्तुतिपूर्वक होमों को कराने का वर्णन है। यजमान के द्वार पर "औदुम्बर" का उपस्थापन करना चाहिए यह बतलाया गया है। पुन: महावेदी को स्थापना करना चाहिए। पाँचवें कण्डिका में वर्णन है कि"औन्दुम्वर्या" के खत्म होने पर उपवक्षान मंत्र का जाप करना चाहिए।

"चमसा" भक्षण "अवेक्षण" मंत्र का जाप करना चाहिए खाने के बाद नेत्र को स्पर्श करके मंत्र का जाप करने का निर्देश भी मिलता है। पुन: "आस्थापन" मंत्र का जाप करने का निर्देश भी मिलता है। माध्यन्दिन सवन में स्तोभ का मंत्र पढ़ना चाहिए, तृतीय सवन के समय यजमान मंत्र का जाप करता है। प्रथम अध्याय में ही अन्तिम भाग में कहा गया है कि सब दक्षिणा प्राप्त कर लेने के बाद मंत्र पढ़ना चाहिए, हिरण्याजि के ग्रहण करने के मंत्र का जापकरने का वर्णन है।आसन, शय्या आदि वस्तु ग्रहण के समय भी मंत्र जाप करने का वर्णन किया गया है।

"ताण्ड्य महाब्राह्मण" के दूसरे तथा तीसरे अध्याय के अन्तर्गत "त्रिवृत्" "पन्चदश्", "सप्तदश्" आदि स्तोमों की विष्टुतियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस प्रकार इन स्तोमो का वर्णन द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में वर्णित है।

"चतुर्थ तथा पंचम अध्यायों" में "गवामयन" का वर्णन किया गया है । चौथे अध्याय के प्रथम "खण्ड में" गवामयन संज्ञा का निर्वचन बताया गया है। इसे बारह मास करने का विधान है। गवामयन वेदना की सफलता वर्णित है। अतिरात्र की प्रशंसा बतायी गयी है। वस्तुत: गौवों के द्वारा अनुष्ठित होने से यह सत्र-गवामयन कहलाया है। यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध सत्र है। दूसरे खण्ड में प्रायणी येष्टि का अनुष्ठान करने का वर्णन है। पुन: प्रायणी शब्द की व्युत्पत्ति बतायी गयी है। प्रायणी में चतुर्विंशत स्तोमों का विधान एवं प्रशंसा का वर्णन है। अन्त में स्तोम का विधान, अनुष्ठान पुन: अनुष्ठान की प्रशसा। पुन: एक विंशत स्तोम की सफलता का वर्णन है। पाँचवे अध्याय में "बारहवें मास में किये जाने वाले "महाव्रत" दिवस के कृत्यों का यज्ञ में महत्व है तथा ये अत्यन्त रोचक विधि से मनाये जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों अध्यायों में इसकी महत्ता वर्णित की गयी है।

"छठवें" अध्याय में "अग्निष्टोम" की उत्पत्ति तथा प्रशंसा का विवरण है। पुन: "अग्निष्टोम" तथा ज्योतिष्टोम के विषय में प्रशंसा तथा विधि बतायी गयी है, क्रमश: द्रोण कलश की उत्पत्ति, प्रकार, "द्रोण कलश" में प्रोक्षण के समय मंत्र का विधान तथा कर्तव्य एवं विधि बड़े रोचक ढंग से वर्णित है। क्रमश: छठवें सातवें आठवें तथा नवें अध्याय के दूसरे खण्ड तक "ज्योतिष्टोम", "उक्थ्य" तथा "अतिरात्र" का वर्णन किया गया है। ये "एकाह" तथा "अहीन" यागों की प्रकृति होते हैं। छठवें अध्याय के सातवें तथा आठवें खण्ड तक ज्योतिष्टोम की उत्पत्ति, पुन: "उद्‌गाता" के द्वारा औदुम्बरी शाखा की स्थापना के विषय में वर्णन, पुन: "द्रोणकलश" की स्थापना का वर्णन आया है। यह द्रोण-परिमाण वाला घट के आकार का वह पात्र है, जिसमें कुछ ग्रहण के लिए सोमरस छानकर डाला जाता है। क्रमश: "सप्तम खण्ड से लकर सातवें अध्याय" के द्वितीय खण्ड तक "प्रात: सवन" का वर्णन है।

"सातवें अध्याय के दूसरे खण्ड से लेकर आठवें अध्याय" के तीसरे खण्ड तक माध्यन्दिन सवन , जिसमें "रथन्तर", वृहत् नोधस तथा "कालेय" सामों का विस्तृत विवेचना की गयी है। पुन: आठवें अध्याय के शेष खण्डों में तथा नवें अध्याय तक द्वादशाह्‌यागों का विधान बताया गया है। इन विधानों में क्रमश: प्रथम दिन से आरम्भ कर दशवें दिन तक के विधानों तथा सामों के बारे में वर्णन किया गया है।

"सोलह से उन्नीस" अध्यायों तक नाना प्रकार के "एकाह" "यागों" का वर्णन किया गया है। जिसमें बताया गया है कि जिन सोमयागों में केवल एक दिन तीनसवनों में समर्पित किया जाता है, उन्हें "एकाह" कहते हैं। इनमें सोमाहुति केवल एक ही दिन की जाती है। जिनमें "अग्निष्टोम" का वर्णन है- यह सोमसंस्था

के यज्ञों में प्रमुख रूप से समस्त सोमयज्ञों को मूलप्रकृति है। इसमें अन्तिम स्तोम प्रयुक्त होता है इसलिए इसे "अग्निष्टोम" कहते हैं। पुन: "ज्योतिष्टोम" यज्ञ का वर्णन है। जब छ: ज्योति स्वरूप वाला विराज छन्द प्रयुक्त होता है तब इसे ज्योति-ष्टोम कहते हैं।

"त्रिवृत्त" "पंचदश" "सप्तदश" "एकादश" स्तोम के इसमें संयुक्त होने से इस अग्निष्टोम को ही "चतुष्टोम " कहा जाता है। इस मुख्य यज्ञ के प्रारम्भ होने के एक दिन पूर्व ही, ऋत्विग् वरण, शालानिर्माण दीक्षा कर्म, पत्नी संयाज तथा दीक्षणीयेष्टि का विवेचन है। इसके अन्य स्वरूपों का भी वर्णन है जिसमें-"अग्निष्टोम" "अत्यग्निष्टोम""उक्थ्य" "षोडशी" "वाजपेय "अतिरात्र" और आप्तोर्याम। अग्नि-ष्टोम ही इन सबकी मूल प्रकृति है। यह भी बताया गया है।

"ताण्ड्यमहाब्राह्मण" के बीसवें अध्याय से लेकर बाइसवें अध्याय तक "अहीन" यागों का वर्णन है। "अहीन याग" से तात्पर्य उस सोमयाग से है, जिनमें तीनों वर्णो का अधिकार रहता है, दक्षिणा होती है, अन्त में "अतिरात्र" संस्था होती है तथा वह एक, दो, तीन, चार आदि अनेक यजमानों के द्वारा निष्पन्न होता है। वे एक से अधिक रात्रियों तक चलने के कारण "अहीन" यज्ञ कहे जाते हैं।

"अहीन" याग के अनेकरूप होते हैं जिसमें एक दिन से अधिक और बारह दिन तक सवन दिवस होते हैं। इनके अन्तर्गत ज्योतिष्टोम "सर्वस्तोम" "आप्तोर्याम", "नव सप्तदश अतिरात्र", "गोष्टोम","आयुष्टोम" "अभिजित","विश्वजित" ,अतिरात्र तथा चार एक स्तोम वाले त्रिवृत्तादि हैं। इनके विषय में बताया गया है कि ये क्रतु शत्रुदमन, राज्यापहरण, पशुप्राप्ति की कामना इत्यादि कामनाओं को प्रदान करने वाले हैं। क्रमश: द्वादशाह रात्रि तक चलता है।

"ताण्डयमहाब्राह्मण " के तेईसवें अध्याय से लेकर पच्चीसवें अध्याय तक सत्रों का वर्णन है। "सत्र" में आहिताग्नि अग्निष्टोम संस्था के सम्पादक कम से कम "सत्तरह" और अधिक से अधिक चौबीस अधिकारी होते हैं। सभी यजमान होते हैं। इसलिए सत्र जन्यफल सबको समान रूप से मिलता है और दक्षिणा नहीं दी जाती सभी को यजमान होने पर सत्तरह अधिकारि-पक्ष में एक गृहपति कहलाता है तथा अन्य सोलह ब्रह्मादि का कार्य करते हैं। इन्हीं अध्यायों में तेरह दिन में समाप्य "त्रयोदशाह" यज्ञ से लेकर सहस्रसंवत्सर सत्र का विशद् विवेचन भी पाया जाता है।

चूँकि सोमयाग के अन्तर्गत ताण्ड्य महाब्राह्मण में वर्णित यागों का विवेचन "यज्ञ संस्था" नाम अध्याय में आगे किया जायेगा अस्तु शोधकर्ता ने मात्र "ताण्ड्य महाब्राह्मण" के पच्चीसों अध्यायों का वर्ण्य विषय ही इस अध्याय में प्रस्तुत किया, क्यों कि विस्तृत विवेचन "यज्ञ संस्था" नाम अध्याय में किया जायेगा।

" रचनाकाल "

"ताण्ड्य महाब्राह्मण" अथवा पंचविंश ब्राह्मण या जैमिनीय ब्राह्मण का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि "ताण्ड्य महाब्राह्मण" "जैमिनीय" के बाद की रचना है। प्राय: दोनों ब्राह्मणों का वर्ण्य विषय एक सा है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में 'गवामयन' "सत्र" जो सब यज्ञों की प्रकृति है, का वर्णन मुख्यतया मिलता है। जब कि "जैमिनीय ब्राह्मण" में सब प्रकार के "एकाह" "अहीन" और "सत्रों का उल्लेख सामान्य रूप से आया है। जैमिनीय ब्राह्मण में आख्यानों का विस्तृत उल्लेख सामान्य रूप से पाया जाता है। डॉ0 कैलेण्ड महोदय ने भाषा और याज्ञिक दृष्टि से दोनों ब्राह्मणों को गम्भीरता पूर्वक आलोचना की है, और वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि जैमिनीय ब्राह्मण ताण्ड्य महाब्राह्मण की अपेक्षा प्राचीनतम रचना है। इस तरह इसका रचना काल स्पष्ट हो जाता

"महत्व"-

ताण्ड्य महाब्राह्मण का महत्त्व अन्यों की तुलना में सर्वाधिक है। इसमें साम और सोमयाग का बहुत ही सुरुचिपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। सामवेद से सम्बद्ध होने के कारण साम के विशेष प्रकारों का तथा उनके नामकरण और उदय का वर्णन है। साम का नामकरण उनके द्रष्टा ऋषियों के कारण ही पड़ता है।

वैखानस ऋषि के द्वारा दृष्टसाम "वैखानस"[1], शर्कन-दृष्ट साम"शार्कर"[2] सामों के नामकरण की यह रीति है। कहीं कहीं पर सामों की स्तुति तथा महत्व के प्रदर्शन के प्राचीन रोचक आख्यायिकाएँ भी प्रस्तुत की गयी है। यथा-"वात्स" साम के विषय में दी गयी है। वस्तुत: वत्स और मेधातिथि दो काण्व ऋषि थे। मेधातिथि ने वत्स को शूद्रपुत्र तथा अब्राह्मण कहकर गाली दी। वत्स "वात्ससाम" से तथा मेधातिथि"मेधातिथ्य साम" से अग्नि के पास ब्राह्मीयान् के निर्णय हेतु पहुँचे, तथा अपने को वत्स ने अग्नि में डाल दिया, परन्तु अग्नि ने उसका रोंआ भी नहीं जलाया। तभी से वात्स साम इच्छाओं के पूरक होने से "कामसनि" के नाम से विख्यात हुआ।[3] इसी प्रकार चौड्क साम के द्वारा च्यवन ऋषि को यौवन प्रदान करने की आख्यायिका का वर्णन किया गया है।[4]

"ताण्ड्य महाब्राह्मण" में यज्ञ के प्रधान विषयों को लेकर विभिन्न ब्रह्मवादियों के मतों का उल्लेख बहुश: प्राप्त होता है।[5] भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का खण्डन कर स्वाभीष्ट मत की पुष्ट स्थापना भी की गयी है। एक

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1• ताण्ड्य महाब्राह्मण - 14/4/7

2• वही - 14/5/14

3• वही - 14/6/6

4• वही - 14/6/10

5• ताण्ड्य महाब्राह्मण - 14/5/8, 15/12/3

जगह इसी ब्राह्मण में प्रसङ्ग है कि व्रात्य यज्ञ में अग्निष्टोम साम का विधान किस मंत्र पर हो। किसी की सम्मति है कि "देवों का द्रविणोदा"[1], पर साम का विधान होना चाहिए, ताण्डय महाब्राह्मण में इसी का मण्डन किया गया मिलता है।

वस्तुत: इस महाब्राह्मण को रचनाकाल ही यज्ञ के उत्कर्ष का प्रतीक है। जब यज्ञ ही मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए पर्याप्त साधन माना जाता था। इसलिए ताण्डय[2] महाब्राह्मण में उल्लेख है कि इन्द्र ने यज्ञ न करने वाले यतियों को श्रृगालों को भक्षण करने के लिए दे दिया। इसी कारण अपनी लौकिकी वृद्धि पाने के लिए नागों ने भी यज्ञ किया।

वस्तुत: "व्रात्यों" को आर्यों के समकक्ष स्थान पाने के लिए अथवा आर्यों की श्रेणी में लाने के लिए "ताण्ड्य महाब्राह्मण" में "व्रात्ययज्ञ" का वर्णन एकमहत्व पूर्ण घटना है। ताण्ड्य महाब्राह्मण के सत्तरहवें अध्याय के प्रथम खण्ड में व्रात्यों की वेशभूषा, आचार-विचार के विषय में बहुमूल्य पदार्थों का निर्देश मिलता है, जो धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्व रखते हैं। ये प्रवास करने वाले, आचार इत्यादि से हीन लोग ही "व्रात्य" के नाम से पुकारे जाते थे।"[3] इन सबकी दोषमुक्ति के लिए अलग-अलग यज्ञों का विधान भी बहुत सुन्दर ढंग से वर्णित है। व्रात्यों के गृहपति तथा अन्य व्यक्तियों की दक्षिणा में भी यहाँ पार्थक्य किया है। इनवस्तुओं की सूची को जब हम देखते हैं तो व्रात्यों के साधनों का पूर्ण परिचय इसी ब्राह्मण में उल्लिखित मिलता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य महाब्राह्मण 7/1/10
2. ताण्ड्य महाब्राह्मण - 18/1/9
3. वही - 17/1/1

इसी ब्राह्मण में बताया गया है कि गृहपति को देय दक्षिणा है[1] - "उष्णीष" (पगड़ी), "प्रतोद" (बैलों को हाँकने के लिए होने के सिरा वारा डंडा), "ज्याहोड" (इषु रहित केवल धनुर्दण्ड), फलका स्तीर्ण विपथ (तख्तों से फैला हुआ कुटिल मार्ग में जाने वाला रथ) कृष्णश-वास (काली धारी वाली धोती) काला और सफेद अविचर्म, रजत निष्क (चाँदी का बना हुआ गले का आभूषण), अन्य व्रात्यों को दक्षिणा में इन वस्तुओं का निर्देश इसी महाब्राह्मण के अन्तर्गत बताया गया है- लाल किनारे की धोती या कपड़ा दो जूता तथा शुक्ल-कृष्ण अजिन आदि।"[2]

ब्राह्मण युगयी भौगोलिक ज्ञान के लिए भी इस महाब्राह्मण की बहुत उपयोगिता है। वस्तुत: इसका भौगोलिक क्षेत्र "कुरुक्षेत्र" तथा सरस्वती का मंडल है, जो स्वर्ग की तरह माना गया है। "कुरुक्षेत्र" में नैमिषारण्य तक का प्रदेश यज्ञ - भूमि के रूप में वर्णित किया गया है।

"ताण्ड्य महाब्राह्मण"[3] के ही अन्तर्गत "रोहितकूलीय" साम की व्याख्या में भरतों के साथ विश्वामित्र का रोहित नदी के कूल (यमुना नदी के पास का प्रदेश) को जीतने का वर्णन किया गया है।

महाभारत के अनुसार कर्ण तथा नकुल ने रोहितक लोगों को जीता था। "विशन"[4] प्लक्ष प्रस्रवण (सरस्वती के पुनरुद्गम का स्थान[5], का वर्णन खूबसूरत

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. 1. ताण्ड्य महाब्राह्मण - 17/1/15
2. वही - 17/1/14
3. ताण्ड्य महाब्राह्मण- 14/3/13
4. वही - 25/10/1
5. वही - 25 /10/16

ढंग से किया गया है। यमुना "कारपचव" (यमुना के प्रवाह वाला प्रान्त) का भी बहुत ही मनोरम ढंग से विवेचन इसी ताण्ड्य महाब्राह्मण के अन्तर्गत हमें उपलब्ध होता है। इस महाब्राह्मण में और भी कतिपय भौगोलिक स्थानों का वर्णन किया गया है। इससे इसकी महत्ता का अन्दाज लगाया जा सकता है, इस तरह यह महाब्राह्मण हर प्रकार की सामग्री से भरपूर है। "व्रात्य स्तोम" यज्ञों का बहुत ही मनोहारी वर्णन यहाँ मिलता है, ऐसा वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है।

- - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य महाब्राह्मण - 25/10/17

0 0 0 0 0

00000

000

0

" ताण्ड्य ब्राह्मण कालीन कथाएँ"

यह निर्विवाद सत्य है कि ब्राह्मणसाहित्य एक कर्मकाण्ड परक साहित्य है। इसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड का ही प्राधान्य है। वैदिक कर्मकाण्ड को विस्तृत व्याख्या ब्राह्मणों ग्रन्थों में भरी पड़ी है। ब्राह्मणों में हमें दो प्रकार की सामग्री मिलती है। एक तो वह जिसे हम विधि के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं, दूसरी वह जिसे अर्थवाद कहा जाता है। विधि में यज्ञ-याग की गतिविधियों की व्याख्या एवं उन पर प्रकाश डाला जाता है। अर्थवाद के अन्तर्गत इतिहास,पुराण एवं "आख्यान" आदि मिलते हैं। वास्तव में आख्यान याज्ञिक क्रिया को सर्वसाधारण के लिए सुलभ एवं ज्ञेय बनाते हैं। साथ ही मानव चरित्र को नैतिकता का संदेश देते है। इनका प्रणयन तो प्राय: याज्ञिक विधियों की व्याख्या की दृष्टि से ही किया गया है। ऐसे उपाख्यान भी प्राप्त होते हैं, जिनमें वाक् को स्त्री के आदर्श को प्रतिनिधि बनाया गया है। वस्तुत: उपाख्यानों से दो कामों की पूर्णता देखने को मिलती है- एक तो यज्ञों के स्वरूप का स्पष्टीकरण दूसरे चारित्रिक एवं सामाजिक आदर्शों की स्थापना है।

वस्तुत: अगर हम सूक्ष्मता पूर्वक विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि यज्ञ विधियाँ बहुत कठिन थीं। थोड़ी सी ही भूल पर यजमान एवं ऋत्विजों को प्रायश्चित करना पड़ता था। स्वल्पवाचन त्रुटि अथवा आहुति क्रम या मंत्र वक्ता को उसका रहस्यात्मक अर्थ विदित न होने पर यज्ञ नष्ट हो जाता था। इस का मूल्य यजमान के प्राणों तक की अन्तिम गति करने वाला भी हो सकता था। उस युग में वर्तमान की भाँति लेखन कला का इतना प्रचार नहीं था, एवं मुद्रण कला से तो लोग

सर्वथा अपरिचित ही थे। यही कारण है कि इतने क्लिष्ट और महत्वपूर्ण विषय के विवेचन एवं उसे बोधगम्य बनाने में उस युग के विद्वानों को आख्यानों का आश्रय लेना पड़ा था ।

वैदिक साहित्य में भी इन आख्यानों ,उपाख्यानों का महत्व था। समस्त वैदिक साहित्य में इस प्रकार अनेक उपाख्यान विद्यमान है,जिसकी विवेचना परवर्ती साहित्य में भी मिलती है। "ब्राह्मण" साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे ये आख्यान उसके शुष्क एवं नीरस विषय को अतिरोचक एवं रमणीय बना देते हैं। इस प्रकार पाठक के लिए मरुभूमि में उपलब्ध स्वल्प छाया के समान सहायक होते हैं। विधि -विधानों के स्वरूप छाया के समान सहायक होते हैं। विधि विधानों में इसके स्वरूप की व्याख्या ही इन आख्यानों की जननी है, ऐसा यदि कहा जाय तो अनुचित न होगा। लेकिन कभी-कभी इनसे भिन्न रोचक एवं मनोरम तथा सुखकर साहित्यिक आख्यान भी प्राप्त होते हैं। जिनका कि यज्ञों के साथ बहुत कम ही सम्बन्ध होता है।

ये आख्यान कहीं कहीं पर तो अत्यन्त लघु है, कहीं कहीं दीर्घकाय और अन्य किसी - किसी स्थल पर केवल संकेत मात्र ही पाया जाता है। यज्ञके विधि-विधानों को बताने के अतिरिक्त इन कथाओं से उस काल के सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशा को जानने में भी सहयोग प्राप्त होता है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशा को जानने में भी सहयोग स्वल्पकाय लघु आख्यानों में उन कथाओं की गणना कर सकते हैं जो सद्यः विधि की सयुक्तिकता प्रदर्शित करने के लिए उल्लिखित है। वास्तव में ये आख्यान किंचिद् भेद से प्रायः सभी ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं।

अधिकांश ब्राह्मणों मे यज्ञ में कौन सी काष्ठ प्रयोग में की जाये, इसके सम्बन्ध में आख्यान उपलब्ध होते हैं। वैसे तो ये अत्यन्त छोटे हैं। जैसे "एक बार अग्नि देवों के पास से चला गया और अश्वरूप धारण करके अश्वत्थ के नीचे एक वर्ष तक रहा। वही अश्वत्थ का अश्वथत्व है। दूसरी ओर द्युलोक में सोमराजा की वल्ली थी। गायत्री छन्द उड़कर गया औरवहाँ से उसे ले आया। उसके पंख टूट गये, यही पर्ण(पलाश) है। इसका महत्व और भी बढ़ गया। क्योंकि एक बार इसी के नीचे बैठकर देवगणों ने ब्राह्मचर्या की थी। वस्तुत: ये आख्यान अधिकांशत: यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाले साधनों से सम्बन्धित थे। इनका मुख्य उद्देश्य इन वस्तुओं के महत्व को प्रामाणिकरूप देना था।

इसी ब्राह्मण में स्वर्भानु नाम असुर द्वारा आदित्य को ढक लेने की कथा[1] व्यापक रूप से कुछ सामान्य अन्तरों सहित प्राय: सभी ब्राह्मणों में आई हुई है। देवताओं के प्रार्थना करने पर अत्रि ऋषि ने अंधकार को दूर किया। संभवत: वर्तमान काल में सूर्यग्रहण के सम्बन्ध में प्रचलित राहुकेतु द्वारा सूर्य को ग्रसने की कथा का मूल स्रोत यही रहा होगा।

गायत्री द्वारा सोमाहरण की कथा प्राय: सभी ब्राह्मणों में पायी जाती है। "वाणी" से सम्बन्धित अनेक कथाएँ आयी है, जो बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद है। एक कथा[2] के अनुसार गायत्रीछन्द सोम को देवताओं के पास ले जा रहा था कि गन्धर्वो ने उसका अपहरण कर लिया देवताओं ने वाक् को भेजा, क्योंकि गन्धर्व लोक स्त्री कामी होते हैं। गन्धर्वो ने स्तुति तथा प्रशंसा से उसे अपनी ओर

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण- 4/5/2 , शतपथ - 5/3/2/2

2. शतपथ - 3/4/1/12, तैत्तिरीय ब्राह्मण- 1/1/3/10

आकृष्ट करना चाहा। उधर देवों ने गायन तथा वादन द्वारा आवर्जन करना चाहा। वाक् देवों के कार्य पर रोझ कर उन्हीं के पास चली गयी, इससे ब्राह्मणों में संकेत है कि स्त्रियाँ आज भी स्तुति की अपेक्षा संगीत से अधिक आकृष्ट होती है। यह उनका स्वभाव है।

"ताण्डय"[1] ब्राह्मण में कथा आई है कि किस प्रकार एक बार वाणी देवताओं के पास से चली गयी और जल मेंप्रविष्ट हो गई। देवताओं के बहुत माँगने पर भी वृक्षों ने वाणी को नहीं लौटाया तब उन्होंने वृक्षों को काट गिराया, परन्तु वाणी तब भी नहीं निकली। वह - , दुन्दुभि" "वीणा" "अक्ष" व "तूण" में विभाजित हो गयी। इसी प्रकार की अनेक कथाएँ आयी हैं।

कुछ आख्यान देवताओं द्वारा सहस्र सूक्त के लिए "आजि" करने एवं उसमें अश्विन कुमारों की विजय से सम्बन्धित हैं। "यज्ञ में भाग प्राप्त करने के लिए "आजि" का उल्लेख आया है।"[2] देवों और असुरों में छोटी-छोटी बात पर झगड़ा करने का वर्णन भी मिलता है। यज्ञ का अश्वरूप से देवताओं से दर्भमुष्टि के द्वारा उसका प्रत्यावर्तन[3], अग्नि मंथन के समय घोड़े को आगे रखने का प्राचीन इतिहास इन्द्र की छन्दों कीसहायता से रात्रि के पर्यायों से असुरों को निकलना, देवताओं द्वारा समाहरण की कथा वनस्थलों पर आयी जिसे गायत्री अथवा वाणी द्वारा लाये जाने का उल्लेख पया जाता है।"[4]

- - - - - - - - - - - -

1• ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/5/10-13

2• ताण्ड्य ब्राह्मण - 7/2/1-2,

3• ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/7/18

4• ताण्ड्य ब्राह्मण =9/5/4, शतपथ ब्राह्मण -3/2/4/1-7

इन लघु आख्यानों मे कभी कभी अत्यन्त गम्भीर तात्विक बातों का भी संकेत मिलता है जो ब्राह्मणों के कर्मकाण्डात्मक वर्णन से नितान्त पृथक है। इनमें गूढ़ तथा गम्भीर अर्थ का वर्णन किया गया है। "जैमिनीय" तथा ताण्ड्य ब्राह्मणों में अनेकों आख्यान मिलते हैं। वे प्रसंगत: किसी सामोत्पत्ति से सम्बन्धित हैं कि अमुक साम क्यों इस नाम से अभिहित हुआ और सामद्रष्टा ने किस परिस्थिति विशेष में उसका दर्शन किया। इन छोटी-छोटी संकेतात्मक कथाओं से उस काल की सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशा के विषय में जानने में मदत मिलती हैं। उदाहरणतदा "अपास्य" द्वारा राजा 'सुदास्' की घोड़ियों को बदल लेना।"[1] रथ से दबे बालक को पुरोहित वृष द्वारा पुनर्जीवित करना, एलूष द्वारा अपमानित होने पर अयौनत्रीय साम दर्शन आदि इसी तरह की अनेकों कथाएँ हैं, जिनका प्रसंगत: पिछले अध्यायों में वर्णन हुआ है तथा आगे के अध्यायों में विशेषकर वर्णित किया जायेगा।

ऋग्वैदिक प्रसिद्ध आख्यान पणि और सरमा कुतिया का संकेत भी ब्राह्मणों में आया है। अन्यत्र "धर्मो" की कथा का भी वर्णन है।

"भागवत" एवं कालिक पुराण में कथा आयी है कि किस प्रकार राजा दक्ष ने एक महान यज्ञ किया , जिसमें सब देवताओं, अप्सराओं, "ऋषियों", "पितरों" आदि को आमन्त्रित किया, परन्तु शिव अथवा रूद्र को नहीं बुलाया था। इस समाचार को जानकर सती अत्यन्त क्रुद्ध हुईं और अपने पिता के गृह बिना बुलाये

- - - - - - - - - - - - - - -

1· ताण्ड्य ब्राह्मण - 11/8/8, जैमिनीय ब्राह्मण - 3/23

हो गयी। वहाँ जब उन्होंने देखा कि यज्ञ में शिव के लिए कोई भाग नहीं दिया गया, तो सती दग्ध हो गयी। इस समाचार को जानकर शिव गये और उन्होंने यज्ञ का विध्वंश कर डाला। यद्यपि भागवत और कालिक पुराण की कथाओं में और स्थल पर अन्तर है, तथापि दोनों ही पुराण इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में शिव, रुद्र को भागनहीं दियाथा, जिससे रुष्ट होकर सती जलमरी और कृद्ध होकर रुद्र या शिव ने उस यज्ञ का विध्वंसकर डाला।

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में वर्णन मिलता है कि इन्द्र ने दधीचि ऋषि की अस्थियों को लेकर उनसे अपना वज्र बनाया था।" इस उपलब्ध संकेतात्मक कथासे उस पौराणिक कथा का सूत्र मिलता है, जिसमें इन्द्र ने दधीचि ऋषि से उनकी अस्थियों को माँगकरअसुरों को मारने के लिए वज्र बनाया था।"

वैसे तो "जैमिनीय ब्राह्मण" कथाओं का भण्डार है, इसमें कुछ कथाएँ अत्यन्त रोचक एवं कहानी कला की दृष्टि से अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। इनसे उस युग की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को समझने में सहायता मिलती है। वास्तव में इन कथाओं का सम्बन्ध विभिन्न सामों से है जैसे "त्रैशोक" साम से सम्बन्धित कण्व नार्षद की कथा सौमित्र साम से सम्बन्धित दीर्घ जिह्वी और सुमित्र की कथा, सौत्रवस साम से संबंधित इन्द्र और कुत्स की कथा इत्यादि हैं।[2]

- - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 12/8/6

2. ताण्ड्य ब्राह्मण - 14/6/8

"कण्व नार्षद " के आख्यान से मालूम होता है कि उस युग में वर्ण व्यवस्था के बन्धन ढीले पड़ गये थे। आर्य और अनार्यों के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध होने लगे थे। इसी प्रकार को अन्य अनेक कथाएँ मिलती हैं।[1]

विष्णु के दशावतारों में नृसिंह भोउनका एक अवतार माना जाता है। इस घटना से सम्बन्धित कुछ ऐसे संकेत ब्राह्मण साहित्य में मिलते है, शायद कालान्तर में इन्हें हो आधार मानकर नृसिंहवतार को कल्पना को गयी होगी। असुरराज - हिरण्य कश्यप प्रह्लाद का वर्णन अक्रमिरूप से आया है। असुर[2] नमुचि का वध इन्द्र ने किया था। उपलब्ध संकेत से इन्द्र ने उसे न दिन में, न रात्रि मे, न सूखे में और न गीले में मारा, वरन जब सूर्योदय नहीं हुआ था, उस वेला में जल के द्वारा उसका इन्द्र ने वध किया। हिरण्यकश्यप के वध सम्बन्धी आख्यायिका में भी इसी प्रकार की प्रसिद्धि मिलती है, कि हिरण्य कश्यप ने भगवान से यह वर प्राप्त किया था कि उसे कोई दिन या रात में जल अथवास्थल में, घर या बाहर नहीं मार सकता है। इसके अतिरिक्त उसे पशु या मनुष्य भी नहीं मार सकता। अतः सूर्यास्त को वेला मे नृसिंहावतार धारण कर भगवान ने उसका वध किया। सम्भवतः असुर नमुचि के वध को यही सांकेतिक कथा पौराणिक हिरण्यकश्यप के वध को कथा का मूल स्रोत है।

ताड्य ब्राह्मण के उक्त कथाओं तथा आख्यानों के अनन्तर विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न आख्यान देखे जा सकते हैं-

- - - - - - - - - - - - - - -

1· ताण्ड्य ब्राह्मण - 12/1/10-11, 13/2/12

2· ताण्ड्य ब्राह्मण - 12/6/8, तैत्तिरोय ब्राह्मण -1/7/1,6-7

1. शुनः शेप आख्यान - ऐतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण

2. पुरूरवा-उर्वशी - शतपथ ब्राह्मण

3. दुष्यन्त-शकुन्तला - शतपथ ब्राह्मण

4. जल-प्लावन आख्यान - शतपथ ब्राह्मण

5. वाणी एवं सोम - शतपथ ब्राह्मण

"वशिष्ठ-विश्वामित्र" "च्यवन भार्गव", "रात्रि उत्पत्ति" "सृष्टि उत्पत्ति" "पर्वत कथा" आदि अन्य उपाख्यान भी क्रमशः शतपथ एवं वृहदारण्यकादि में मिलते हैं।

उपयोगिता

वस्तुतः आख्यानों में भारतीय विचार-धारा के विकास की गाथा निहित है। अनेक आख्यान रहस्यात्मक हैं। याज्ञिक व्याख्याओं को स्पष्ट करते हुए तत्कालिक धार्मिक एवं सामाजिक चित्र ये आख्यान प्रस्तुत करते हैं। इनका अभिप्राय क्या है ? यह विषय सोचनीय है। वैदिक व्याख्याकारों की दृष्टि में ये आख्यान रहस्यवादी है, किन्तु पं० बलदेव उपाध्याय ने "आख्यानों को उनके मानवीय मूल्य से वंचित करना कथमपि न्याय और उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है"। ऐसा मत व्यक्त किया है। वही सही भी है। यह लिखकर "उपाध्याय जी ने रहस्यवादी विचारों का खण्डन किया है।

वस्तुतः आख्यान साहित्य मानवीय कल्याण की भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। इन आख्यानों को समाज -शास्त्रीय निष्कर्ष पर देखने पर हम कह सकते हैं कि याज्ञिक क्रिया काण्डों को सर्वसुलभ सर्वज्ञेय बनाने के साथ-साथ नैतिकता का उपदेश देना इनका मूल उद्देश्य रहा है। इन आख्यानों का उद्देश्य मानव को मानवता

को शिक्षा देना, राष्ट्र मंगल की कामना, आचार-विचार परिशुद्धि, ईश्वर में आस्था तथा अनैतिकता का दु:खदयी परिणाम प्रदर्शन आदि हैं। ऋषि तथा मुनियों ने तप: परिपूत हो, जो आचार एवं निष्ठा प्रदर्शित की यज्ञ संस्थाओं का निर्माण किया, वह सभी मानव कल्याण के लिए ही तो था। भावी सन्तानइन्हीं उच्चादर्शो एवं भावनाओं से युक्त हो, जीवन में प्रतिष्ठा प्राप्त करे, यही शिक्षा एवं विशेषता इन आख्यान साहित्य की अमूल्य निधि है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्यपर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए हम यह कह सकते हैं कि ये ब्राह्मण साहित्यआख्यानों का विपुल भण्डार है, यद्यपि ये कथाएँ किसीविशिष्ट कथाक्रम से सम्बद्ध नहीं है, तथापि ये लघु एवं दीर्घकाय सम्पूर्ण साहित्य में विकीर्ण कथाएँ एक ही विषय-विशेष यज्ञ को किसी विशिष्ट क्रिया -पद्धति अथवा किसी ऋषि की महत्ता या साम विशेष के महत्व एवं उसके उद्गम की कथा से सम्बन्धित हैं। रोचक एवं मनोहारी ये आख्यान ब्राह्मणोंके दुरूह विषय को बोधगम्य बनाने में सहायक ही नहीं है, वरन् परवर्ती महाभारत पुराणों एवं लौकिक संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होने वाले विशद आख्यान साहित्य के आदिसूत्र भी हैं, इनकी महत्ता अक्षुण्य है, रहेगी भी। अत: ब्राह्मणग्रन्थों को सरस रोचक तथा आकर्षक बनाने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं आख्यानों को दिया जाना चाहिए।

तृतीयोऽध्याय:

****

यज्ञ संस्था

****

"यज्ञ संस्था"

"यज्ञ की सामान्य पृष्ठभूमि"

वैदिक यज्ञ अपनी महानता के साथ-साथ अपनी जटिलता में अनुपम है। वास्तव में यह जटिलता सिर्फ कर्मकाण्ड की विधियों में ही नहीं है, अपितु विधियों में प्रयुक्त मंत्रों में भी दिखायी पड़ती है। सामान्यक्रियाओं को भी विधिपूर्वक करना यज्ञ की प्रमुख विशेषता है। किस क्रिया में कौन सा मंत्र विनियुक्त हो, इसका निर्देश सूत्र ग्रन्थों में है, पर अमुक मंत्र का विनि-योग क्यों किया गया इसका स्पष्टीकरण ब्राह्मण ग्रन्थों में है।

चूँकि ब्राह्मण साहित्य में इन यज्ञों की विस्तृत विवेचना की गई है, साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से ब्राह्मणयुग में इसकी विवेचना होने से इस शोध निबंध में यज्ञ पर सामान्य प्रकाश डालने का प्रयास शोधकर्ता द्वारा किया जा रहा है, जो सांस्कृतिक अध्ययन के अन्तर्गत आवश्यक भी है, वही शोधकर्ता का मुख्य विषय भी है। इसलिए इसकी अवहेलना तो की नहीं जा सकती। यज्ञ ही उस युग के धर्म का प्राण है। इसलिए बिना इनके स्वरूप को समझे, उस युग के धर्म तथा संस्कृति का अध्ययन सर्वांग सम्पन्न भी नहीं हो सकेगा।

महावैयाकरण पाणिनि ने यज्ञ का अर्थ देवपूजा, संगतिकरण और दान किया है, अर्थात् प्राणरूप देवताओं की पूजा या इनका प्रसादनयज्ञ है, दो तत्वों को मिलाकर नया तत्व बनाना संगतिकरण है। संसार के सभी पदार्थों में आदान प्रदान की प्रक्रिया चल रही है, यह भी यज्ञ है। इसके प्रवर्तन कर्ता देवता हैं। जिनका नाम है- अग्नि और सोम, अग्नि को अत्ता या

अन्नाद और सोम को अन्न कहा गया है। "यज् विस्तारे" धातु से भी यज्ञ शब्द की उत्पत्ति होती है जिसका अर्थ है- सृष्टि का विस्तार, यही कारण है कि यज्ञ को सृष्टि का मूल भी कहा गया है। देवता भी यज्ञ से शरीर धारण करते हैं। यज्ञ के प्रमुख प्रेरक तत्त्व है- बलिदान, पितृपूजा अर्थात् पितृयज्ञ, सृष्टिमूलक अनुष्ठान, देवता का सामीप्य कालाभ और पाप से मोक्ष। गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जिस प्रकार नाग अपना पुराना निर्मोक त्याग देता है, इसीका मूँज से छूट जाती है, उसी प्रकार शाकला का हवन करने वाला समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

ऋग्वैदिक होता ऋत्विक् ऋचाओं का पाठ करता था यजुर्वेदीय अध्वर्यु कर्मकाण्ड देखता था, उद्गाता सामगान करता था, और अथर्ववेदी ब्रह्म यज्ञ कर्म का अध्यक्ष होता था। प्रमुख ऋत्विजों के तीन-तीन सहायक होते थे। स्मार्ताग्नि और श्रौताग्नि - अग्नि के दो भेद थे। स्मार्ताग्नि के अन्तर्गत औपासन होम, वैश्यदेव , पार्णव, अष्टका मासिक, श्राद्ध, श्रावण, शूलमय सात यज्ञ थे। हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ श्रौत यज्ञ के दो प्रमुख भेद थे। अग्निहोत्रदर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रायण, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्ड पित्रयज्ञ हविर्यज्ञ के अन्तर्गत आते थे। सोमयाग के अधीन अग्निष्टेम, आत्य-ग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, पुरुषमेध और आप्तोर्याम थे। राजसूय और अश्वमेध यज्ञ राजनैतिक महत्व के कारण बहुत महत्वपूर्ण सोमयाग थे।

यज्ञ वैदिक धर्म का मेरुदण्ड अगर कहा जाय तो ज्यादा उचित है। अग्नि के नाना प्रकार के देवताओं को उद्दिष्ट कर हविष्य

अथवा सोमरस का हवन यज्ञ के नाम से जाना जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ संस्था का तो साम्राज्य सा दिखायी देता है, है भी। इसमें यज्ञों के नाना प्रकार के अनुष्ठानों का सूक्ष्म तथा विस्तृत विवेचन है कि आलोचक समुदाय को तो एकदम आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। यज्ञों का पूर्ण वर्णन या विवेचन श्रौत तथा गृह्य सूत्रों की सहायता से ही हो सकता है। इसकापूर्ण वैभव वहीं दृष्टिगोचर होता है। यज्ञ को अगर ब्राह्मण धर्म का भी मेरूदण्ड कहा जाय तो कुछ ज्यादा अच्छा है।

किसी भी युग का रहन - सहन ,सामाजिक संगठन,आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था को ही समझ लेने मात्र से ही उस काल का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन सम्पूर्ण तो नहीं हो जाता है, बल्कि उस युग के निवासियोंके धार्मिक विश्वास,धारणाओं उनके देवता और उपासना की प्रचलित प्रणाली को भी जानना आवश्यक है। इससे उस युग के लोगों के वैवाहिक विकास के बारे में जानकारी मिलती जाती है। इसलिए इस अध्यायमें यज्ञों पर सामान्य जानकारी देने का छोटा सा प्रयास शोधकर्ता कर रहा है।

भारतीय संस्कृति में यज्ञ का स्थान महत्वपूर्ण है। यह इहलोक में साक्षात ऐश्वर्यरूप[1] ,पापों रोगों आदि का नाशक[2], तथा परलोक में

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण -1/7/1/9/14

2. मैत्रायणी संहिता -1/10/10/14,गीता 3/13,कौषीतकि ब्राह्मण- 5/1

स्वर्ग प्राप्ति का साधन[1], एवं अमरत्व को प्राप्त कराने वाला है[2]। इसलिए यही श्रेष्ठतम् कर्म है।[3] इस सर्वोत्तम कर्म को प्रजापति ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही देवों और मनुष्यों के पारस्परिक नि:श्रेयस के लिए उत्पन्न किया था,[4] अत: जन्यजनक सम्बन्ध के अभेदत्व के आधार पर यज्ञ को प्रजापति कहा गया है[5]। इस तरह यज्ञ की महत्ता का वर्णन सर्वत्र देखने को मिलता है।

यज्ञों की परम्परा ब्राह्मण की महान उपलब्धि है। ब्राह्मण युग में यज्ञ का सम्पादन ही धर्म का मूल ध्येय था। ब्राह्मण ग्रंथो में यज्ञीय विवरण का लोकधर्म था। यह पुरोहित वर्ग द्वारा प्रचलित यज्ञवाद, समाज के जन जीवन के काफी नजदीक भी था। पुरोहितों ने लोक प्रचलित विचारों और अनुष्ठानों को कर्मकाण्ड के साथ निकालकर एक नया स्वरूप प्रदान किया।

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. तैत्तिरीय संहिता - 6/34/7, शतपथ ब्राह्मण 1/7/3/1, ऐतरेय 1/19
2. मैत्रायणी संहिता - 1/10/17, तैतिरीय संहिता 1/6/8
3. शतपथ ब्राह्मण - 1/7/1/5
4. गीता - 3/10
5. शतपथ ब्राह्मण - 1/7/7/4, 4/3/4/3, 11/6/3/9,
   ऐतरेय - 2/17, 4/26

इस तरह अपने महत्त्व को शनै: शनै: और भी विस्तृत कर लिया। यह यज्ञ वाद मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर छाया था। पाक यज्ञों के अन्तर्गत हुत, प्रहुत और आहुत नामक संस्थाओं में विवाह से लेकर समावर्तन संस्कारों की गणना की गई है। ये सभी गृह्य यज्ञ हैं जिनका प्रत्येक व्यक्ति के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। भौतिक जीवन में नाना प्रकार की अन्न, पशु, प्रजा रूपी समृद्धि की प्राप्ति के लिए अनेक यज्ञों का आज भी अनुष्ठान किया जाता है। सोम हवि तथा पाक तीनों ही संस्थाओं से सम्बन्धित यज्ञ यजमान को भौतिक सम्पदा से सम्पन्न बताते हैं। राजनीति के क्षेत्र में भी राजाओं के लिए अनिवार्य रूप से अनुष्ठान के योग्य सिद्ध किया गया है।

वस्तुत: ये यज्ञमानव की अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं। चूंकि ब्राह्मणयुग कृषि एवं पशु प्रधान था, इसलिए यज्ञों को इस विशाल परम्परा के अनुष्ठान का फल सर्वत्र, प्रजा पशु तथा अन्न रूपी सम्पदा की प्राप्ति का हेतु कहा गया है। ये सब यजमान को नाना प्रकार की इच्छापूर्ति करने वाले थे। जहाँ देखते हैं किकृषि धर्म का उल्लेख है वहाँ पर सीता यज्ञ का भी उल्लेख देखने को मिलता है। मृत्यु पर्यन्त भी यज-मान का उन यज्ञ परम्पराओं से लगाव शेष रहता है।

ऋग्वेद में तीन अग्नियों का उल्लेख स्पष्ट रूप से पाया जाता है।[1] एक दूसरी जगह तीन स्थानों पर अग्नि प्रज्ज्वलित करने का वर्णन आया है।[2] गार्हपत्याग्नि का भी स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है।"[3] प्रतिदिन किये जाने वाले तीनों सवनों- प्रात: सवन, माध्यन्दिन,एवं सायं सवन का वर्णन पाया जाता है।"[4] वस्तुत: ब्राह्मण साहित्य इस प्रकार के यज्ञों के वर्णनों से परिपूर्ण है। कर्मकाण्ड का वर्णन ही इनका मुख्य लक्ष्य है, यज्ञ अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है जो इन ग्रन्थों में भरा पड़ा है।

"यज्ञों का विकास"

वैदिक यज्ञ अपनी महत्ता में जितना अप्रतिम है, अपनी विविधता और जटिलता में भी उतना ही सुन्दर है। हजारों वर्षों से जन जीवन की अनेकानेक धाराओं को छूते आ रहे किस यज्ञ को कितनी विधियाँ प्रारम्भिक हैं कितनी परवर्ती परिवर्धन है, यह तो जानपाना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। लेकिन इतना तो अनुमान किया ही जा सकताहै कि अग्नि होत्रयाग अन्य यज्ञों की कल्पना काउद्गम है।अग्नि होत्र की

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1• ऋग्वेद - 2/36/4

2• ऋग्वेद - 1/15/5,5/11/2

3• ऋग्वेद 1/15/12

4• ऋग्वेद 3/28/1-3

सहज सरल दैनिक विधि का सीधा सम्बन्ध यजमान से है, जिसमें बहुधा ऋत्विक् भी बीच में नहीं आता है। इसके अग्न्याधान में प्रयुक्त अग्नि के स्तुति मन्त्र स्पष्टतः यजमान की देवरंजन भावना द्वारा समृद्धि को प्राप्त करने की स्वाभाविक कामना मात्र का द्योतक है। इन नवीन आकांक्षा से दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य यज्ञों की कल्पना उभरी होगी। दर्शपूर्णमासा मुख्य रूप से प्रजा की उत्पत्ति की कामना और शरीर रचना की भी कुछ स्थिति को व्यक्त करता है"।[1] चातुर्मास्य के वैश्वदेव वरुण प्रधान, साकमेध और साक-मेधान्तर्गत पितृयज्ञ, क्रमशः मृत्युरोग और शत्रु की बाधाओं को क्षीण करके एक स्वस्थसम्पन्न और सुरक्षित जीवन जीकर अमरत्व पाने के सामूहिक प्रयास ही है"।[2]

उक्त तीन प्रकार के यज्ञों की मूल भावना को प्राचीन माना जा सकता है।[3] यज्ञों मेंसोमाहुति का प्रयोग बाद में शुरू हुआ।[4] वास्तव में ऋग्वेद काल में ही सोमयागों का स्वरूपउभरा था। ऋग्वेद में अश्वमेध के प्रकरण से पशुयागों का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इस तरह यहकहा जा सकता है सभी यज्ञों का स्वरूप ऋग्वैदिक काल में ही पर्याप्त विकसित

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ का प्रथम काण्ड, मैत्रायणीसंहिता 4/1, तैत्तिरीय संहिता -3/22-9
2. मैत्रायणी संहिता -1/10/5-17, शतपथ ब्राह्मण -2/5/6
3. महाभारत शान्तिपर्व -2/69/20
4. सैकरीफाइज इन द ऋग्वेद -पृष्ठ 284

हो गया था। परन्तु सभी क्रियाएँ ऋग्वेद कालीन नहीं है क्योंकि सूत्र ग्रन्थों तथा ब्राह्मणों में वर्णित हविर्यागों और मुख्यरूप से सोमयागों के उद्देश्यों को विविधता और प्रक्रिया की जटिल व्यूहरचना इस बात का सबूत है। हाँ इतना तो निश्चित रूप से माना जा सकता है, कि यज्ञ द्वारा अभीष्ट-प्राप्ति की श्रद्धा ने याज्ञिक कर्मकाण्ड को इतना लोकप्रिया बनाया।

अगर हम स्वतन्त्र मुख्य यज्ञों को देखें तो कुल 12 यज्ञ है- 7 हविर्याग- अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास, चातुर्मासों के वैश्व देव, वरुण प्रवास, साकमेध और शुनासीरोय और 4 सोमयाग- अग्निष्टोम, राजसूय वाजपेय और अश्वमेध तथा इष्टकायाग अग्निचिति। इन 12 यागों के कई अंगभूत याग थे, जो बाद में स्वतन्त्र बने जिनमें पितृयाग, पशुयाग, प्रवर्ग्य, और सौत्रमणी को मिलाकर 16 यज्ञ होते हैं।

उक्त यज्ञों के अतिरिक्त अग्निष्टोम के 5 विकृतियाग और हैं-"उक्थय", "अतिरात्र", "षोडशी", "अत्याग्निष्टोम्" "अप्तोयामि"।[1] किन्तु शतपथ ब्राह्मण[2] और सूत्र ग्रंथों में द्वादशाह षडह्याग अभिप्लव, विश्वजित आदि अनेक अन्य सोमयागों का भी उल्लेख पाया जाता है। वस्तुतः सोमयागों के तीन भाग हैं जो एकाह,[3] 'अहीन', और सत्र हैं।[4]

- - - - - - - - - - - - - -

1. यज्ञतत्व प्रकाश - पृष्ठ 81-86 (इसमें वाजपेय यज्ञ का भी वर्णन किया गया है)।
2. शतपथ ब्राह्मण - 4/5/4/14
3. तैत्तिरीय संहिता सायण भाष्य 1/200
4. गोपथ ब्राह्मण का पूर्वभाग - 1/12,5/25

एकाह, एक से अधिक दिनों में पूर्ण होने वाला अहीन - यह द्वि रात्र से त्रयोदश रात्र तक होता है। और 13 से अधिक रात्रियों से लेकर वर्ष भर तक अनुष्ठित करने या होने वाला सत्र कहलाता है।

उक्त 16 मुख्य यज्ञों में पुरुषमेध और सर्वमेध तथा अग्न्याधान की तीनों विधियों को परिगणित करके तो कुल 21 यज्ञ हो जाते हैं और गोपथ ब्राह्मण 4 में यज्ञ को एकविंशति संस्था वाला ही कहा गया है किन्तु वहाँ नामोल्लेख न होने से यह कहना कठिन हो जाता है कि किन-किन यज्ञों को इनमें सम्मिलित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते है कि शुरू में देवों की अराधना का साधन यह यज्ञ किस प्रकार से पिण्ड और ब्राह्मण को उत्पत्ति प्रक्रिया के दर्शन का आधार बना, और क्रमश: द्रव्याश्रित श्रौत स्मार्त एवं गृह्य यज्ञों को विविध धाराओं में प्रवाहित होते हुए मनोमय यज्ञों को भी समेटता चला, यह बहुत ही रोचक और मनोरम अध्ययन का क्षेत्र है।

"यज्ञों के प्रयोजन "

वैदिक यज्ञों द्वारा ही सृष्टि की उत्पादक शक्तियों और इनकी प्रकियाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यज्ञ के विकास क्रम के बाद यज्ञों के प्रयोजन को व्यक्त करना अभीष्ट होगा, इसी क्रम में ब्राह्मण भागों के विविध व्याख्यानों के आधार पर एक-एक यज्ञों के,पयोजन को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जो निम्नवत है-

'अग्न्याधान'-

इस आधान यज्ञ द्वारा क्रमश: गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि को स्थापित किया जाता है। इन्हीं तीनों अग्नियों में यथा समय यजमान के सभी यज्ञीय कार्य - श्रौत, स्मार्त और गृह्ययज्ञ- अनुष्ठित किये जाते हैं। आहिताग्नि देवों का सामीप्य पा लेता है।[1] शतपथ ब्राह्मण[2] में इन तीनों अग्नियों को प्राण, अपान, और व्यान कहा गया है। इन अग्नियों का मन्थन करके देवों ने अपने में प्राणों को ही जीवित और स्थापित किया था।

"पुनराधान"-

पुनराधान पूर्णत: अग्नि का ही भाग है। जिस समृद्धि के लिए पहले अग्न्याधान किया गया है, यदि वह प्राप्त नहीं होती है, क्षीणता बढ़ती है, तो उसी समृद्धि प्राप्ति के लिए पुन: अग्नि का आधान करना चाहिए। यह आख्यान भी मिलता है कि देवों ने असुरों से युद्ध करते समय पूर्वस्थापित अग्नि को सुरक्षित रखने के लिए उसे फिर से अग्नि में ही स्थित कर दिया था यही अग्नि का पुनराधेय अर्थात् पुनराधान है।[3]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण 2/6/1/37

2. शतपथ ब्राह्मण- 2/2/2/15/18

3. मैत्रायणी संहिता - 1/7/2, शतपथब्राह्मण 2/2/3/1/2

"अग्न्युपस्थापन"

काटक संहिता में[1] इस यज्ञ को अपने कल्याण के लिए अग्नि को स्थापित कर उसे नमन का एक प्रकार बताया गया है, अग्निहोत्र में इस उपस्थान रूप स्तोम् को संयुक्त करके स्वर्ग को प्राप्त कर लिया जाता है। "इससे मृत्यु से भी छुटकारा पाया जाता है"।[2] शतपथ ब्राह्मण में इसका प्रयोजनपशु प्राप्ति, यजमान की प्रार्थना को फल सिद्धि ,अपने को अग्नि का पोष्य बनाना और अग्निहोत्र रूप गर्भाशय में उपस्थान रूप रेतस का आधान करके प्रजनन क्षमता प्राप्त करने का वर्णन है।"[3] सायण ने[4] उपस्थान को धनिक के प्रति . दरिद्र के भेंट लेकर जाने के समान कहा है। यजमान समृद्धि शाली अग्नि को यह स्तुति उपहार देकर उससे प्रजा, पशु आदि की प्रार्थना करता है।

"अग्निहोत्र"-

मैत्रायणी संहिता में अग्नि होत्र को प्रजाओं की सृष्टि कहा गया है। अर्थात इस यज्ञ के सम्पादन से प्राजाओं की उत्पत्ति होती है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1· काटक संहिता - 7/4

2· शतपथ- 2/3/7-9, शतपथ ब्राह्मण भाष्य -2/84

3· शतपथ ब्राह्मण - 2/3/4/3, 5/7-8

4· तैत्तिरीय सायण भाष्य - 2/652

प्रजापति ने अग्नि में दी गई ।3 आहुतियों द्वारा क्रमशः सातग्राम्य पशुओं और छः ऋतुओं को उत्पन्न किया था, उसी अग्नि को उसका भागधेय देकर प्रसन्न करने के लिए ही यह होम किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसका अनुष्ठाता प्रजा को उत्पन्न करता है, विजयी जनता है है लोकों को प्राप्त करता है। "तैत्तिरीय ब्राह्मणानुसार होम द्वारा ही अंगिरसों ने औषधियों को और प्रजापति ने अग्नि, वायु तथा आदित्य को उत्पन्नकिया था। इन तीनों देवों ने क्रमशः प्राण,शरीर और आँखों के लिए आहुति देकर एक गाय को जन्म दिया। यही गाय अग्नि होत्र है।[1]

"दर्शपूर्णमास"

दर्शपूर्णमास का समग्र प्रयोजन केवल शतपथ ब्राह्मण में ही प्राप्त होता है। इसमें कहा भी गया है कि अमावस और पूर्णिमा के ये दो अर्ध-मास प्रजापति के पुत्रो-देवों और असुरों के दाय थे। चन्द्र को पूर्ण करने वाला पक्ष देवों को मिला,और क्षीण करने वाला असुरों को प्राप्त हुआ। देवों ने यागों का अनुष्ठान कर उसे प्राप्त किया था। अर्थात इसका अनुष्ठान करने वाला शत्रु की समस्त सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है।[2] एक अन्य जगह कहा गया है कि पूर्णमास की हवि वृत्र-चन्द्रमा को मारने से सम्ब-न्धित है, और अमावस को हवि तो साक्षात् वृत्र हत्या ही है।[2] पूर्णिमा और अमावस को क्रमशः सूर्य चन्द्रमा; पृथ्वी-द्युलोक तथा दिन रात कहा गया है।

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण - 2/1/1, 2/1/6

2. शतपथ ब्राह्मण -1/6/4/2

अत: इस याग सम्बन्धी व्रतों के पालन और यज्ञानुष्ठान के यजमान आत्मा में अवस्थित मन वाणी को ही तृप्त करता है।[1]

चातुर्मास्य याग -

यह वर्ष की तीन प्रमुख ऋतुओं में किये जाने वाले पर्वयागों का समूह है इन पर्वयागों का अपना पृथक-पृथक प्रयोजन है। प्रथम "वैश्वदेवपर्व" के अनुष्ठान से प्रजापति ने प्रजाओं का निमार्ण किया था । अत: प्रजा का इच्छुक यजमान इससे प्रजा को प्राप्त करता है। शतपथ में वर्णित है कि वरूण के यवों को खा लेने से प्रजायें वरूणपाश में बंध गई, इसलिए इस याग का ना वरूण प्रघास पड़ा।"[2] इसका एक प्रयोजन यह है कि जन्म-जात रूग्ण सन्तान का उपचार करना इस वरूणप्रघासपर्व का प्रयोजन है। इस प्रकार संक्षेप मे वैश्वदेव से जीवन , वरूण प्रघास से स्वास्थ्य, साकमेघ से शत्रुरहित निर्दोषता और शुनासीर से समृद्धि प्राप्त करके उत्तम जीवन जीने की शक्ति पाना वस्तुत: जीवनविकास की एक खूबसूरत प्रकिया है। ऐसा परिपूर्ण जीवन प्राप्त करने के बाद अमृतस्वरूप स्वर्ग लोक अर्थात अक्षय आनन्द की प्राप्ति की कामना भी स्वाभाविक है। इसी कामना की पूर्ति के लिए इन यागों में पितृयज्ञ के अनुष्ठान का भी विधान किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि "चतुर्मास्य याग द्वारा उत्पत्ति से लेकर अमृतत्व प्राप्ति की जीवन पद्धति का दिग्दर्शन करवाया गया है, इसलिए कहा गया है कि

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण -11/2/4/7

2. शतपथ ब्राह्मण- 2/5/2/1

चातुर्मास्यों से ही प्रजापति ने असुरों का नाश. करके प्रजा को सृष्टि की थी।"[1]

"अग्निष्टोम"

वस्तुत: अग्नि ही अग्निष्टोम है। कहा भी गया है "इससे अग्नि की स्तुति की जाती है, इसलिए इसका नाम इग्निष्टोम है।[2] अग्नि के अर्चन से जिस जिस प्रयोजन की सिद्धि होती है, वे सभी इस अग्निष्टोम से भी साध्य है। इसलिए इस अग्निष्टोम को "ब्रह्म"[3] ब्रह्मवर्चस्[4] ,आत्मा[5] "वीर्य"[6] और "प्रतिष्ठा"[7] भी कहा गया है। इसी के यजन को करके देवों ने भूलोक पर विजय प्राप्त की थी। यही स्वर्ग तथा समृद्धि का प्रदाता भी है। सोमयागों में यह प्रथम है अत: इसे यज्ञमुख भी कहा गया है। इसी के द्वारा यजमान "सर्व" प्राप्त कर लेता है। अन्य सोमयागों को करने का अधिकारी भी बनता है।

अग्निष्टोम का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय में "सोमयाग" के अन्तर्गत किया जयेगा।

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. काठक संहिता - 35/20
2. ऐतरेय ब्राह्मण - 3/43
3. कौषीतकि ब्राह्मण -21/5
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण - 2/7/1/1
5. ताण्ड्य ब्राह्मण -19/5/11
6. ताण्ड्य ब्राह्मण -04/5/21
7. कौषीतकि ब्राह्मण - 25/14

"वाजपेययाग"-

वाज्पेय याग को भी सोमयाग माना जाता है। इसका निर्वचन सायणाचार्य द्वारा दिया गया है।[1] कहीं-कहीं यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण या राजन्य ही इस यज्ञ को अनुष्ठित करें। इस यज्ञ की अनेक क्रियायें यथा- रथारोहण रथदौड़, अभिषेक आदि इस उद्देश्य के अनुकूल भी प्रतीत हैं। ब्रह्मचारी ही इसका वास्तविक अनुष्ठाता है और अपनी सर्वोत्कृष्ट तेजस्विता के कारण यह ब्रह्मचारी असाधारण शक्ति सम्पन्न और समस्त पदार्थों का अधिकारी हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्राह्मण को हीइस यज्ञ का अनुष्ठान करने का अधिकारी कहा गया है। डा० कीथ अपने "वैदिकधर्म और दर्शन"[2] में इस यज्ञ का सम्बन्ध उच्च वैभव और उच्चतम ध्येयों की प्राप्ति को मानते हैं।

"राजसूययज्ञ"

इसका मुख्य तत्व है- "राजा का अभिषेक होना है" अगर अन्य विधियाँ जो हैं, वे सब इसी को पूरक हैं। अत: इसका मुख्य प्रयोजन तो राज्य प्राप्ति है। सूत्रग्रंथों में स्पष्टत: राज्यकामी को ही राजसूय के अनुष्ठान का निर्देश दिया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों से भी जनकारी मिलती है कि राजसूय से यजन करने पर राजा बनता है।

- - - - - - - - - - - -

1. "वाजो देवान्नरूप: सोम: पेयो यस्मिन्यागे स वाजपेय इत्येकं निर्वचनम्। यस्मादेतेन् यजेन् देवा: वाजं फलरूपनन्यमाप्तुमेच्छस्त स्मादन्नरूपो वाजपेय: प्राप्यो येन् स वाजपेय इत्यपरनिर्वचनम्।"
तैतिरीय सं०भा02/88, सायणाचार्य

2. वैदिक धर्म और दर्शन - डा० कीथ - 2/42।

इसके अलावा भी राजसूययाजी यज्ञ क्रतु, सब इष्टि और होमों को भी प्राप्त कर सर्वोत्कृष्ट बन जाता है, "मृत्यु से मुक्त होकर पूर्ण वायु को प्राप्त करता है और राजसूय के यजनकर्ता पर आभिचारिक प्रयोग करने वाला अपने अभिचार का स्वत: शिकार होकर नष्ट हो जाता है।

"अश्वमेधयज्ञ"-

वास्तव में इस यज्ञ का प्रयोजन क्या है ? वह इस पर निर्भर है कि इस यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला अर्थात अनुष्ठाता कौन है। मगर, सूत्र एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में इस विषय में भिन्नता प्रतीत होती है।

जनश्रुति के अनुसार यह यज्ञ दिग्विजीय सम्राटद्वारा किया जाता है, और इसके यजन द्वारा वह अपना सार्वभौमत्व सिद्ध करता है। "मानव श्रौतसूत्र के अनुसार यह यज्ञ लोकों को जीतने और सब कामनाओं को वशवर्ती करने के इच्छुक द्वारा किया जाना चाहिए।[1] आपस्तम्ब ने कहा है" एक छत्र सार्वभौम सम्राट ही इस यज्ञ को करने का अधिकारी है।[2] शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है" ग्रीष्म में अनुष्ठान करने से यह यज्ञ क्षत्रियका बन जायेगा, क्योंकि ग्रीष्मऋतु क्षत्रिय की है"।[3] अत: वसन्त में इसका आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि बसन्त ब्राह्मण की ऋतु है। ब्राह्मण बनकर ही इसका यजन भी किया जात है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि मूलत: इस यज्ञ का

- - - - - - - - - - -

1. मानव श्रौत सूत्र -9/2/1/1

2. यज्ञतत्व प्रकाश पृष्ठ सं0 115

3. शतपथ ब्राह्मण - 13/4/1/2-3

अधिकारी तो ब्राह्मण ही है। यही इससे सिद्ध होता है कि मूलत: इस यज्ञ का राजा से सम्बद्ध गुड़ तो जाता है।

यह यज्ञ सर्व-समस्त की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है।[1] इसके यजन करने से ब्राह्महत्या जैसा महापाप भी नष्ट हो जाता है। अश्वमेध यज्ञ को करने वाला सब भूतों को अभिभूत करलेता है, भूमत्व को पाता है, धारक बनता है, "सब दिशाओं व भुवनों को जीत लेता है।"[2] कहीं-कहीं अश्वमेध को दर्शपूर्णमासयाग और अग्निहोत्र को एक रूप बताते हुए कहा गया है कि " जो विद्वान अग्नि होत्र को आहुति देता है और दर्शपूर्णमास से यजन करता है, वह प्रतिमास अश्वमेध से ही यज्ञ करता है"।[3] "चन्द्रमा ही अश्वमेध है।"[4] "राष्ट्र भी अश्वमेध है"।[5] दुर्बल व्यक्ति (राजा) द्वारा इस यज्ञ के अनुष्ठान का निषेध किया गया है, क्योंकि उसके बलशाली शत्रुओं द्वारा अश्व के पकड़ लिये जाने पर यज्ञ-भंग कापाप हो जायेगा, इसकी संभावना ही ऐसा करने को दुर्बल राजा को इस याग को करने का निषेध करता है। यही इस यज्ञ का सामान्य प्रयोजन है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ - 13/2/2/16, तैत्तिरीय ब्राह्मण-3/8/9/4
2. शतपथ ब्राह्मण- 13/3/1/4
3. शतपथ ब्राह्मण -13/1/2/3
4. शतपथ ब्राह्मण 11/2/5/5
5. तैत्तिरीय ब्राह्मण- 3/8/9, शतपथ ब्राह्मण-13/2/16, 13/1/6/3

"सौत्रामणीयाग"

शतपथ ब्राह्मण में सौत्रामणी का निर्वचन देते हुए कहा गया है कि "इसमें इन्द्र को पापरूप मृत्यु से सम्यक्तया रक्षा की गई। यही सौत्रामणी का सौत्रामणीत्व है।[1] इन्द्र को रक्षण की आवश्यकता क्यों पड़ी इस संबंध में जो आख्यान मिलता है, वह देखने पर लगभग एक सा ही लगता है। "जब इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र त्रिशीर्ष सोमपायी विश्वरूप को मार दिया, तो क्रुद्ध त्वष्टा ने इन्द्र को सोम से वंचित कर दिया। इन्द्र ने उसके यज्ञ का विनाश करके सारा सोम पी लिया। वह पिया गया सोम इन्द्र के शरीर से निकलने लगा और अंगों से निकला वह सोम विविध पशुओं और अन्नों में बदल गया। इस प्रकार इन्द्र की शक्ति उन-उन पशुओं और अन्नों में चली गई, इसी क्षीणशक्ति इन्द्र को अश्विनों और सरस्वती ने चिकित्सा की, और नमुचि के वीर्य को इसमें स्थापित किया, इससे इन्द्र में पुन: शक्ति का संचरण हुआ, और वह मृत्यु से बच गया"।[2] वस्तुत: यह यज्ञ इन्द्रियों को सब प्रकार से वीर्य सम्पन्न करने वाला है, ऐसा कहा गया है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि जब प्रजापति एक यज्ञ का अनुष्ठान करने पर शक्ति से रहित हो गया , तो वह सौत्रामणी के यजन

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण - 12/7/1/14
2. मैत्रायणी संहिता -2/4/1, काठक संहिता-12/10
   शतपथ ब्राह्मण 12/7/1, तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/8/5

द्वारा ही पुन: शक्ति को प्राप्त करने में समर्थ हुआ।[1] इतना ही नहीं इसी यज्ञ से पुरूष की उत्पत्ति होती है। इस यज्ञ की एक एक वस्तु किस प्रकार पुरूषशरीर के विभिन्न घटकों की प्रतीक है, इसका विशद विवेचन भीशतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत हमें आसानी से प्राप्त होता है तथा इस यजन की महत्ता काप्रतिपादन भी करता है।

"प्रवर्ग्य"-

शतपथ, ताँड्य ब्राह्मण तैत्तिरीय, आरण्यक में कहा गया है "उस धनुष की प्रत्यंचा को दीमकों ने काट दिया, तब सहसा टूटी प्रत्यंचा ने अथवा उस प्रत्यंचा से स्वत: नि:सृत अर्थात निकले बाणों ने उस यज्ञ रूप विष्णु का सिर काटकर ऊपर की ओर उछाल दिया, और यह छिन्न हुआ सिर ही प्रवर्ग्य है, जिसे अश्विनों ने यज्ञपुरूष के शरीर में पुन: अच्छी तरह से जोड़ दिया।"[2] इस तरह हम देखते हैं कि प्रवर्ग्य के अनुष्ठान के बिना अनुष्ठित यज्ञ सिर विहीन शरीर की तरह रह जाता है। ऐसे सिररहित यज्ञ से यजमान को न तो अभीष्ठ फल की प्राप्ति हो पाती है, न ही वह स्वर्ग को ही जीत सकता है।[3] प्रवर्ग्य का अनुष्ठान करने पर ही यज्ञ पूर्ण होता है तथा यजमान की कामनाएँ पूर्ण होती हैं। किन्तु प्रवर्ग्य का यह अनुष्ठान सोमयागों में ही अनिवार्य है, क्योंकि सिर रहित यज्ञ पुरूष विष्णु के जो तीन भाग किये गये वे ही क्रमश: प्रात: सवन, माध्यन्दिन सवन,और तृतीय सवन हैं।[4]

- - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण - 12/8/2/1
2. शतपथ ब्राह्मण-14/1/1/8-11,तैत्तिरीय आरण्यक-4/14/6
3. तैत्तिरीय आरण्यक -5/1/5
4. तैत्तिरीय आरण्यक -5/6/8

इसलिए सोमयागों में उपसद विधि के साथ-साथ प्रवर्ग्य के अनुष्ठान का भी निर्देश दिया जाता है। किन्तु शतपथ के अनुसार प्रथम सोमयाग में इसके अनुष्ठान का निषेध है।[1]

इससे तो मूलत: यही जान पड़ता है कि प्रवर्ग्य याग का कोई स्वतन्त्र फल नहीं है, बल्कि यज्ञों के फलों को पूर्णता से प्राप्त करवाना ही इस याग का मुख्य प्रयोजन है।

"गोनामिकयाग"

इसके नाम सेही यह तो स्पष्ट है कि इस यज्ञ विधि का सम्बन्ध गौ के नामों से है। इसमें गाय के अनेकों नामों का बार-बार उच्चारण और मंत्र प्रयोग किया जाता है। परन्तु गाय क्या वस्तु है, इस विषय में भिन्न अर्थात् विविध आख्यान मिलते हैं। एक जगह कहा गया है कि उसे क्रमशः द्विपदी पुनः चतुष्पदी बनाया गया , इसी से वह स्थित हो सकी। इसी चतुष्पदी गाय के पैरों को देखकर देवो, पितरों, मनुष्यों और असुरों ने उक्त वर्णित वस्तुओं के अलावा यज्ञ, ऊर्ज, प्रज्ञा और भूति पशुभूति को भी दुहा था। "इसी गाय के पैरों में घृत का अधिष्ठान है। "इसी गाय के पैरों से क्षरित घृत से ही श्रोत्रिय, कुमारी और पतिकामा स्त्री के मुख का परिमार्जन करने का विधान है।[2]"

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण - 14/2/2/44

2. शतपथ ब्राह्मण - 1/8/1/26

"अग्निचितयाग"-

अग्नि का अथवा अग्नि सन्दीपन के लिए इष्टकाओं का चयन करना-चुनना, यथा विधि संयोजन करना "अग्निचित्त" है। ज्येष्ठता के इच्छुक प्रजापति ने सर्वप्रथम इस अग्नि का चयन कर ज्येष्ठत्व प्राप्त किया था। अग्नि का चयन अन्न और बल की प्राप्ति के लिए [1] तथा स्वर्ग लोक के लिए [2] किया जाता है।

डा० कीथ ने [3] भी माना है कि यह यज्ञ वस्तुतः ब्राह्मण रचना के उस पूर्ववर्ती विचार को कर्मकाण्ड में उतारने का पुरोहितों द्वारा किया गया एक ठोस प्रयास है, जो ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में आदि विराटपुरुष के शरीर-विच्छेद द्वारा सृष्टि रचना की प्रक्रिया के रूप में वर्णित है। यह अग्नि वेदि ब्रह्माण्ड की प्रतीक है, और इस तरह यज्ञ ब्रह्माण्ड रचना के सिद्धान्त का एक तरह से साकारीकरण अथवा प्रयोजन है।

उक्त यागों का सामान्यप्रयोजन ही विशेषकर सूत्र ग्रंथो तथा ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है, जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक दोनों दृष्टिकोण से उपादेय है, शोध प्रबन्ध का विषय चूँकि ताण्ड्य ब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन है, इसलिए उस युग की तथा पूर्व एवं उत्तर की सांस्कृतिक विशेषताओं का अध्ययन, जिसमें यागों का वर्णन तो नितान्त आवश्यक ही होता है, क्योंकि मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तथा पश्चातभी इनके (यागों) के महत्व को कैसे नजरन्दाज किया जा सकता था।

- - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण - 1/8/1/26
2. मैत्रायणी संहिता 3/1/3
3. मैत्रायणी संहिता - 3/4/8/13

अतैव यज्ञों के प्रयोजन को विवेचित किया गया, तथा इसके सामान्य प्रयोजन का यथा संभव प्रकटोकरण किया गया।

"यज्ञ पन्चाड्ग"

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ को पंक्ति अर्थात् पाँच अंगों वाला कहा गया है। यज्ञ पन्चाड्ग को यज्ञ तत्व अगर कहा जाय तो भो देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् और दक्षिणा को परिगणित किया है। इस प्रकार ये पाँचों यज्ञ के मूल तत्व है।"[1] शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञ पंचांग सम्पन्न कहा गया है। इसको संक्षेप में इस प्रकार जाना जा सकता है।

1. देवता -

एक आत्मा को विभिन्न विभूतियाँ ही देवता है, देवता को तीन श्रेणियों में विभक्त क्या जाता है जो- आजानाज देवता, कर्म देवता, तथा आजान देवता है। इनमें से आजानाज देवता और कर्मपाल देवता कर्मफल के भोक्ता होते है तथा दिव्य लोक में रहकर अपने कर्मो का फल भोग करते है। आजान देवता को स्थिति इनसे भिन्न होती है, ये देवता सृष्टि के आदि काल में उद्भूतहुए है। जिस तरह सूर्य, चन्द्र, वायु, इन्द्र इत्यादि ठीक उसी तरह होते हैं। ये देवता स्तुतिऔर आहुति से प्रसन्न होते हैं

- - - - - - - - - - -

1. भारतीय संस्कृति और साधना -(प्रथमखण्ड) पृष्ठ 168

तथा कर्मफल का प्रदान करते हैं। " ये दिव्य साकार और ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं तथा सिद्ध योगियों के सदृश एक समय में अनेकत्र प्रकट होने की क्षमता भी रखते हैं।[1]

2• हविर्द्रव्य -

आजान देवताओं को यज्ञ में आहुति में दिया जाने वाला पदार्थ द्रव्य कहलाता है,आहुति का प्राचीन वैदिक अर्थ होता है- आह्वान, आहुति यज्ञों में देवताओं को मन्त्रों के द्वारा बुलाया जाता था, और वे प्रत्यक्ष होकर अपना भाग ग्रहण करते थे, परन्तु प्रचलित अर्थ तो इसका यह है कि द्रव्य का वह भाग जो देवता आदि को अर्पण कियाजाता है "आहुति" कहलाता है। "अग्नि मुखा वै देवा:" के अनुसार आग में दी गयी आहुति वस्तुत: देवताओं के मुख में ही दी जाती है। याज्ञिक लोगों का सिद्धान्त है कि अग्नि में प्रविष्ट होने पर आहुति अमृत के रूप में परिणत हो जाती है, और अमृत भोगी देवों के लिए वह जीवन के आधार रूप में परिणत हो जाती है,देवों के लिए वह जीवन के आधार रूप में पदार्थ बन जाती है।

3• मन्त्र -

"मननाद् वै मंत्रा:" , मन्त्र का मन्त्रत्व उसके मनन के कारण है। मन्त्र शक्ति से सम्पन्न वह शब्द राशि है जिसके प्रभाव से हवि देवताओं के पास योग्य रूप में प्रस्तुत होती है, मन्त्र चैतन्यात्मक होते है तथा मन्त्र ही देवताओं का विग्रह होता है, ऐसा मीमांसा की भी दृष्टि में है।

4• ऋत्विक् -

यज्ञ के लिए बुलाया जाने वाला अर्थात् जो आमन्त्रित किया गया है, और उस कार्य को कराने में पटु है अर्थात निष्णात है वह "ब्राह्मण" "ऋत्विज्" कहलाता है। ये चार प्रकार के होते हैं और एक-एक वेद को साथ सम्बद्ध होकर उसकी सहायता से अपना यज्ञीय कार्य सम्पन्न करते हैं। ये चारों ये हैं-

(क) होता-

ऋग्वेद के द्वारा देवताओं का यज्ञ में आह्वान करता है।

(ख) अध्वर्यु -

यजुषों के द्वारा यज्ञ में होमादि का अनुष्ठान करता है।

(ग) उद्गाता-

सामों को उच्च स्वर से गायन करता है।

(घ) ब्रह्मा-

यह अथर्ववेद से सम्बद्ध होने के बावजूद अन्य वेदों का भी ज्ञाता होता है, यज्ञ के विभिन्न कर्मों का निरीक्षण करना ही इनका प्रधान कार्य होता है।

इन चारों में प्रत्येक के सहायक तीन-तीन ऋत्विक होते हैं और इस प्रकार महत्वपूर्ण यज्ञ में षोडश ऋत्विजों को रहना अनिवार्य होता है। इनमें प्रत्येक के निर्दिष्ट कार्य अलग-अलग होते हैं।

5• दक्षिणा-

यज्ञ के अन्त में अर्थात् यज्ञ सम्पन्न होने के बाद ऋत्विजों को पारिश्रमिक के रूप में दिया गया द्रव्य(दक्षिणा) कहलाता है। "निर्दक्षिणो हतो यज्ञः" के अनुसार दक्षिणा देना यज्ञ की पूर्णता के लिए नितान्त आवश्यक

होता है। दक्षिणा सर्वोत्तम द्रव्य से दी जाती है, इसके लिए वैदिक काल में गाय से बढ़कर पूततम् पदार्थ अन्य नहीं था। इसलिए गाय ही दक्षिणा में दी जाती थी। "दक्षिणा" गो का पर्यायवाची हीमाना जाता था । कठोपनिषद् " दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा आविवेश" में उद्धृतकिया गया है।

उक्त पाँच अङ्गों की सामग्रता तथा विशुद्धि यज्ञ की पूर्णता के लिए जरूरी मानी जाती थी, यदि इन अंगों में से किसी भी एक अंग में भी थोड़ी भी त्रुटि रह जाती थी, या हो जाती थी, तो यज्ञ का अभीष्ठ फल नहीं प्राप्त होता था। वास्तव में प्राचीनकाल में यज्ञ अपने पूर्णवैभव एवं विस्तार के साथ होता तथा सम्पन्न किया जाता था। यज्ञ के सम्पादन में अनेकों वस्तुओं और व्यक्तियों का योगदान जरूरी एवं अनिवार्य है, इसका भी विभाजन हम तीन तरह से कर रहे हैं। जिनका कि संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

(अ) यज्ञ के आधार :- देवता, मंत्र और हवि यज्ञ के मूलाधार है, सच पूछिये तो इन्हीं के चारों तरफ या चारों ओर यज्ञ क्रियाओं का ताना-बाना बुना रहता है। चूँकि देवता मूलाधार है तथा यज्ञ का सर्वप्रमुख देवता अग्नि, विष्णु इन्द्र और सोम है। प्राय: सभी यज्ञों में इनका स्थान भी प्राप्त होता है। द्वितीय कोटि के देवताओं में वरुण, अदिति, पूषा, सविता मरुत, द्यावा-पृथिवी और सरस्वती आदि हैं। इनकी स्थिति सब यागों में तो नहीं है, मगर कई यागों में पायी भी जाती है ।

कभी-कभी 14 प्रकार के अन्न, दही , पयस और सुरा का प्रयोग भी होता है। जैसे - पशुयाग में पशु की हवि मुख्य है।

(ब) यज्ञ के सम्पादक :- इनमें तीन वर्ग किये जा सकते हैं-1. यज्ञ का संकल्प कर्ता-वैदिक यज्ञों के संकल्पकर्ता, देवपूजन के अभिलाषी व्यक्ति को यजमान कहा जाता है। "यह यजमान संकल्पात्मक मन का ही रूप होता है।"[1] इसी पर समस्त दायित्व भी होता है। ऋत्विज् इसी के लिए अनेकानेक ऐश्वर्य की कामना करते हैं।"[2]

यजमान पत्नी की उपस्थिति भी यज्ञ की पूर्णता हेतु जरूरी होती है। क्यों कि "बिना पत्नी के यज्ञ का फल नहीं मिलता।"[3] पत्नी भी यजमान के साथ स्वर्गलोक की भागीदार होती है। मगर इसका यज्ञ में कोई स्वतंत्रयोग-दान नहीं है, ऐसा वर्णन मिलता है।

2. यज्ञ का अनुष्ठाता :- यजमान के बीज रूपी संकल्प को पुष्पित और पल्लवित वृक्ष का रूप देने वाले यज्ञविधियों के अनुष्ठाता ,ऋत्विज् भी यजमान द्वारा ही चुने जाते हैं, अतः यदि यजमान यज्ञ की आत्मा है तो ये ऋत्विज् यज्ञ के अंग हैं।[4]

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण -12/8/2/4

2. शतपथ ब्राह्मण 1/6/1/20

3. "अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः -" तैत्तिरीय ब्राह्मण-2/2/2/6

4. शतपथ - 9/5/2/16

3· आनुषंगिक कार्यकर्ता - यह यज्ञ के तीसरे प्रकार के व्यक्ति ऐसे हैं जो आवश्यकतानुसार किये जाने वाले एकाध कार्य के करने में सहयोगी बनते हैं। इनका कोई स्वतन्त्रमहत्व या अस्तित्व नहीं है। इनमें हवि के कूटने पीसने वाले हविष्कृत , पशु के मारने वाले शमितृ और सोमविक्रेता आदि आते हैं।

(स) यज्ञ के उपकरण - यज्ञ के उपकरणों को 12 भागों में बाँटा जा सकता है-

1·आज्यपात्र - इनमें आहुति के लिए घी अथवा घी से मिली हुई दही आती है। ये भी चार हैं- आज्य धानी, पृषदाज्यधानी, ध्रुवा और उपभृत।

2· होमपात्र- इनमें आहुतियाँ दी जाती हैं ये पाँच प्रकार की होती हैं- जुहू, स्रुव, अग्निहोत्र हवणी, दर्वी और प्रचरणी आती हैं।

3·मन्थन उपकरण- इनसे अग्नि उत्पन्न की जाती है, इनमें । अग्नि मन्थन-शकल और दो अरणियाँ - एक उत्तरारणि और दूसरी अधरारणि है।

4· यज्ञायुध - इनसे वेदि खोदने , हवि पीसने आदि का काम लिया जाता है। ये दस प्रकार के होते हैं- स्फ्य, अभ्रि, उलूखल, मूसल, दृषद-उपल, शम्या, शूर्प कृष्णाजिन और परशु।

5· दोहन उपकरण - ये हवि के लिए दूध दुहने में प्रयुक्त किये जाते हैं ये हैं- पलाश या शमी की शाखा, शाखा - पवित्र, उखा या रस्सी।

6• <u>हविपात्र</u> - ये हवियों को तैयार करने में प्रयुक्त किये जाते हैं, ये कुल मिलाकर 13 प्रकार के हैं- कपाल, उपवेश, मदन्तीपात्र, संवपन पात्री, मेक्षण, दर्वी, चरुस्थली, पुरोडाश पात्र, महावोर, पिष्टे लेप पात्र, शराव, अन्वाहार्यस्थाली, उपयाग अथवा उपयमनी, परिग्राह।

7• <u>उपयोजनपात्र</u>- इन्हें आवश्यकतानुसार विधि यज्ञविधियों में काम में लिया जाता है, इन्हें उपयोजनके नाम से अभिहित किया जता है। इनमें वेद, पवित्र, विधृति, प्रस्तर, आसन्दो आदि हैं।

8• <u>प्रातिस्विक उपकरण</u> - यज्ञ में अनिवार्यरूप से प्रयुक्त द्रव्यों को "प्राति-स्विक" कहते हैं। ये 6 हैं- समिधा, प्रोक्षणीपात्र, इध्म, परिधि, बर्हि, पुष्कर-पर्ण इन्हें कहा जाता है।

9• <u>चमस और ग्रहपात्र</u> - सोमयाग में प्रयुक्त 10 चमस 19 ग्रहपात्र और सवनीय तथा द्रोण कलश अपेक्षित है, दशपेय याग में 100 चमसों के विधान की बात का वर्णन किया जाता है।

10• <u>पशुयाग के विशिष्टपात्र</u> - श्वपाश्रपणी, शूल, वसाहोम हवणी, छुरी आदि।

11• <u>आसन</u> - ऋत्विजों और यजमान आदि के बैठने के लिए आवश्यकतानुसार आसन भी अनिवार्य है।

12• भक्षण पात्र - इनमें ऋत्विज् और यजमान अपना अपना हविर्भाग खाते हैं। इनमें ब्रह्मा, यजमान और उसकी पत्नी के लिए क्रमश: प्राशित्रहरण, यजमानपात्र और पत्नीपात्र होते हैं। शेषपात्र व्यक्ति से सम्बन्धित न होकर "इडा" नामक विशिष्ट हविर्भाग से ही सम्बन्धित होता है, और वह इडा पात्र के नाम से पुकारा जाता है।

उक्त विवरण को देखने से यज्ञ के पन्चाङ्गों को सामान्य जानकारी उपलब्ध की जा सकती है, यही यज्ञ के पन्चाङ्ग हैं।

" सोमसवन" तथा "सोमयाग" का विवेचन

अब सोमयाग पर विस्तृत रूप से विचार हम करेंगे, क्योंकि यह बहुत ही महत्वपूर्ण याग है। सोमयाग ही आर्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध याग है। यह परसी लोगों में भी प्रचलित था, ये लोग भी इसको सम्पन्न कराते थे, ऐसा विवरण हमें मिलता है। वस्तुत: यह बहुत ही विस्तृतदीर्घ कालीन तथा बहुसाधन व्यायोव्यापार है। इसमें सोम का रस निचोड़कर दिन के तीनों कालों में उसकी पृथक-पृथक देवतासम्बधी आहुति दी जाती है। इस काल विभाग के अनुसार ही इस सोमयाग विधि को प्रात: सवन, और माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन के नामों से पुकारते हैं। ये सवन और सोमाहुतियाँ जितने दिन तक चलायी जाती है उन्हीं दिनों की संख्या के आधार पर सोमयागों का वर्गीकरण किया गया है जैसे एक ही दिन में सब सम्पन्न हो जाने पर एकाह, दो दिन से 12 दिन चलाने पर अहीन

और उससे अधिक दिन तक करने पर इसे सत्र का नाम दिया जाता है। यहाँ एकाह का ही वर्णन है। इसी दिन सोम को पीसकर रस निकालते हैं, अतः इसे "सुत्यादिन" भी कहा जाता है। वस्तुतः सोमलता को कूटकर रस का निकालना ही "सोम अभिषवण" ही सोम का सवन करना कहा जाता है। इसे संक्षेप में 1• एकाह- एक ही दिन में साध्य याग है। 2•अहीन-दो दिनों से लेकर 12 दिनों तक चलने वाला याग है। 3•सत्र - 13 दिनों से शुरू कर पूरे वर्ष तक तथा एक हजार वर्षों तक चलने वाला याग है। द्वादशाह दोनों प्रकार का होता है अहीन और सत्र भी।

"वसतीवरी" नामक जलों का ग्रहण स्थापन-

वस्तुतः सोमसवन दिन से पूर्व की संध्या को सूर्यास्त से पहले प्रवहमान जलों में उनके प्रवाह से प्रतिकूल दिशा में कलश डुबाकर जल भरा जाता है। यदि जल भरने से पूर्व सूर्यास्त हो जाये, तो हाथ में हिरण्यलेकर किसी ऐसे व्यक्तिके घड़े से भरना चाहिए जो पहले सोमयाग कर चुका हो और जब जल भरा जाये, तब तक एक जलती लकड़ी को घड़े के ऊपर रखे रहना चाहिए, यह जल से भरा कलश रातभर यज्ञमण्डप में रखा रहता है, और देवों ने रात्रिभर इन जलों में वासकर यज्ञ के आगा भी अनुष्ठेय कर्म को जाना था, इसलिए इन जलों को नाम "वसतीवरी" देवताओं के वास के कारण ठीक है। इनका ग्रहणकर्ता भी यज्ञ के अनुष्ठेय कर्म को जान लेता है।

- - - - - - - - - - - - - - - -

1• मैत्रायणी संहिता - 4/5/2

अध्वर्यु इन वसतोवरो जलों को सर्वप्रथम गार्हपत्य के पश्चिम में रखता है, और फिर उत्तरवेदि की क्रमश: दक्षिणी और उत्तर श्रेणी पर रखकर अन्त में आग्नीध्र-मण्डप में ले जाकर रख देता है। रातभर ये यही पड़े रहते हैं, और यजमान इन्हीं के पास बैठकर रात्रि जागरण करता है,इन्हीं जलों से सोम का आप्यायन किया जाता है।

" प्रात:सवन"

अगला सुप्त्यादिन सब सोमों को दक्षिण हविर्धानमण्डप में बिछो मिट्टी पर रखकर दक्षिण हविर्धान शकटपर खे हुए सोम को शकट पर से वस्त्र द्वारा खींचकर अधिवषण फलकों पर रखा जाता है। यजमान सप्त होममन्त्र द्वारा इस अवस्थित सोम को छूता है और अध्वर्यु होता को प्रातर नुवाक प्रात: कालीन सवर के देवताओं को बुलाने के मंत्रों के पाठ को प्रैष देता है। प्रातरनुवाक के मन्त्र पाठ से प्रतिस्थाता प्रागवंश में यवों से धाना करम्भ औा परिवाप को हवियाँ तैयार करता है,व्रीहि से पुरोडाश और एक दूध से आमिक्षा को बनाता है। इन पाँचों हवियों को ही प्रात: सवन के पाँच पुरोडाश कहा जाता है।

क्रमश: पुन: अध्वर्यु: होता को जलों के आह्वान मंत्रों का प्रैष देता है और मित्र वरुण के चमसाध्वर्यु को मित्रावरुण चमस को वसतीवरी जलों से भरकर तथा नेष्टा को यजमान पत्नी को लकर चात्वाल की ओर जाने का प्रैष दिया जाता है।[1] "ये दोनों कार्य सम्बन्धी कर्ताओं द्वारा ही

- - - - - - - - - - - - - -

1• ताण्ड्य ब्राह्मण,- 20 से 22 अध्याय तक वर्णित है।

सम्पन्न किये जाते हैं। अध्वर्यु के चात्वाल के वापस लौटने पर होता उससे जलप्राप्ति के बारे में पूछता है। अध्वर्यु उसे स्वीकारात्मक उत्तर देकर आहव-नोय में प्रचरणी से "क्रतुकरणी" नामक आहुति देता है और यजमान सैनि-ग्राध्या" जलों को स्तुति करवायी जाती है।

अब उपांशुसवन लेकर वाणी का नियमन करते हैं और सोम की गठरी को गाँठ खोलकर हिरण्ययुक्त हाथ से सोम को अभिमर्शन करते हैं। उपांशुसवन को फलाकोंपर रखते हैं और सोम को देवताओं के नामों के क्रम से उठा उठाकर कृष्णाजिन पर डालते हैं। खरीदते समय जिस प्रक्रिया से सोम के नापते है, बिल्कुल उसी तरह इस समय भी सारे सोम को कृष्णाजिन पर रखा जाता है। अगर अभिचार सम्बन्धी पात्र को रखने को हो तो इनके लिए ये किये जाते हैं- 1· महाभिषण 2· अन्तर्यामिग्रह 3· एन्द्रवायवग्रह 4· मैत्रावरूण ग्रह 5· आश्विन ग्रह को सम्पन्न किया जाता है।

पशुयाग- पुन: अग्नि षोमीय पशुयाग के समान ही अग्नि देवता के लिए एक अज से यजन किया जाता है। पर यह यजन विधि वपाहोम तक ही अनुष्ठित की जाती है"।[1]

प्रात: सवनिक पुरोडाशयजन -

इस सवन के हेतु सब ऋत्विज् और यजमान सदस में प्रविष्ट होते हैं। यजमान होता को धिष्णवाग्नि के दक्षिण पूर्व और अध्वर्यु उत्तर में पैठता है, प्रतिप्रस्थाता एक पात्री में घी चुपड़ता है। घी से युक्त पात्री में पूर्व भाग में धाना, दक्षिण भाग में करम्भ, पीछेभाग मे परिवाप मध्य में पुरोडाश और उत्तरार्थ में आमिक्षा- इन पाँचों प्रात: कालीन हवियों को

- - - - - - - - - - - - - -

1 ब मैत्रायणी संहिता - 3/9/5, शतपथ ब्राह्मण - 4/2/5/12-13

सजाता है, अध्वर्यु जुहू उपभृत में हवियों को लेकर मैत्रावरुण को इन्द्र के अनुवाक्या मंत्रों के लिए प्रैष देता है। क्रमशः द्विदेवत्यग्रह होम, द्विदेवत्यग्रह भक्षण, शुक्रामन्थि ग्रह, आग्रायणग्रह, उक्थ्य ग्रह, ध्रुव ग्रह का कार्य सवन सम्पन्न होता है। पुनः ऋतुग्रह – संवत्सर के प्रतीक [1] इस ग्रह के दो पात्र होते हैं, जिनके सिरों पर आमने सामने दो मुख बने होते हैं, अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता एक-एक पात्र में एक-एक ऋतु के लिए सोम का भाग लेते हैं, ये ग्रह 14 बार- 7 बार अध्वर्यु द्वारा और 7 बार प्रतिप्रस्थाता द्वारा लिये जाते है।,ग्रहण के बाद इन ऋतुपात्रों को रखे बिना ही इस ग्रह की आहुति दी जाती है। इस ग्रह होम में वषट्कर नहीं होता है तथा न दूसरी आहुति ही होती है। पुनः आगे चलकर "ऐन्द्राग्न ग्रह" अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता अपने अपने ऋतुपात्रों में ही इस स्वर्गलोक रूप ऐन्द्राग्नग्रह को लेकर यथास्थान पहले रखते हैं, इस ग्रह को दो वषटकारों से आहुति दी जाती है और ग्रह भक्षण होता है। पुनः वैश्वदेवग्रहअध्वर्यु आदित्यरूप शुक्रपात्र में पुरुषरूप इस वैश्वदेवग्रह को लेकर यथास्थान रखता है, यथापूर्व होम तथा भक्षण भी किया जाता है।

- - - - - - - - - - -

1. मानव श्रौतसूत्र -2/4/4/12-13, शतपथ ब्राह्मण -4/3/3/3

"माध्यान्दिन सवन"

यह सवन विधि दिन के मध्य भाग अर्थात दोपहर को की जाती है, इसी कारण इसकानाम माध्यंदिन सवन है। इस सवन में केवल इन्द्र के सोम ग्रह का विशेष विधान है, अतः हमें इन्हें "निष्केवल्य सवन" भी कहते हैं।[1]

तृतीय सवन -

चूँकि यह सवन दोपहर के बाद ही सम्पन्न किया जाता है, तथा दिन का तीसरा सवन होने से वह तृतीय सवन कहलाता है। अब हम सोमयाग का विवेचन करेंगे, क्यों कि वह भी शोध-निबंध का मुख्य अंश शोधकर्ता ने बनाया है, अतः इस प्रकार सोमयाग पर विशेष चर्चा करना अभीष्ट होगा।

"सोमयाग"

सोमलता के रस की आहुति देने से यह सोम याग कहलाता है। वास्तव में आज यह लता हमारे देश में नहीं मिलती है। इसकारण आज उसकी जगह "पूतीका" नामक लता का प्रयोग किया जाता है इसमें 16 ऋत्विजों का कार्य होता है, मुख्य ऋत्विजों के तीन-तीन सहायक होते हैं। यह याग आर्यों का बहुत ही ख्याति प्राप्त अर्थात प्रसिद्ध याग है, यह पूर्व में पारसी लोगों में भी प्रचलित था। यह बहुत ही विस्तृत तथा दीर्घ कालीन तथा बहुसाधनव्यापी व्यापार है। अग्निष्टोम के अन्तिम दिन पर बहुत ही महत्व पूर्ण दिन का कार्य आरम्भ होता है। इसमें सोमलता का रस निचोड़कर

- - - - - - - - - - - -

1. "सैक्रीफाइज इन द ऋग्वेद" पृष्ठ 284

दिन के तीनों कालों में उसको अलग-अलग देवता सम्बन्धी आहुति दी जाती है। इस कालक्रमानुसार ही इस याग की विधि को प्रातः सवन, माध्यंदिन सवन और तृतीय सवन के नाम से पुकारा जाता है। ये सवन और सोमाहुतियाँ जितने दिन तक चलायी जाती है, उन्हीं दिनों की संख्या के आधार पर सोमयागों का विभाजन किया गया है। जैसे-एक ही दिन में सब सम्पन्न अगर होता है तो उसे एकाह, दो से 12 दिन तक चलने पर अहीन और उससे भी अगर अधिक दिन तक सम्पन्न किया जाता है तो उसे सत्र कहा जाता है। सोम-सवन को ही सोम अभिषवण भी कहा जाता है।

सोमयागों को विचार परवर्ती है, क्योंकि यज्ञ में सोमाहुति का प्रयोग बाद में प्रारम्भ हुआ है।[1] लेकिन ऋग्वेद में यजमान के लिए "सुन्वतः" विशेषण तथा अद्रि, ग्रावा आदि शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग इस बात का सबूत है कि ऋग्वेद काल में ही सोमयागों का स्वरूप स्पष्ट हो चुका था। "ऋग्वेद में अश्वमेध के प्रकरण से पशुयागों का महत्व स्पष्ट हो जाता है।[2] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अधिकांशतः यज्ञों का स्वरूप ऋग्वैदिक-काल में ही पर्याप्त विकास की मंजिल तय कर चुका था, लेकिन सूत्र ग्रन्थों और ब्राह्मणों में वर्णित हविर्यागों और मुख्यतः सोमयागों के उद्देश्यों की विविधता और प्रक्रिया की जटिल रचना इस बात का खुला संकेत देती है कि इन यज्ञों की सभी क्रियाएँ ऋग्वेद कालीन नहीं है। यह स्पष्ट मालूम होता है कि यज्ञ द्वारा अभीष्ट प्रगति की श्रद्धा ने याज्ञिककर्मकाण्ड को लोकप्रिय बनाया, और ऋत्विज् वर्ग की कुशल बुद्धि ने क्रियाओं में "मनमाने " परिवर्तन

- - - - - - - - - -

1. ऋग्वेद 1/161, 162
2. ऐतिहासिक अनुशीलन -पृष्ठ 10

परिवर्धन करते हुए यज्ञों को जटिल और व्ययसाध्य बनाकर इन्हें बहुरूपता प्रदान की।

उक्त दो बातों की पुष्टि इन दो बातों से भी हो जाती है प्रथम यह कि यज्ञ सामान्यत: दो प्रकार के कहे गये है[1] पहला-प्रकृतियज्ञ जिसमें यज्ञ अपने प्रकृत अर्थात मूल रूप में सांगोपांग वर्णित होता है, और दूसरा है विकृतियज्ञ- जिनमें विकार अर्थात अन्य यागों के विशिष्ट परिवर्तित परिवर्धित रूप ही निर्दिष्ट किये जाते है। अग्निष्टोम सोमयागों प्रकृतियज्ञ है, तथा दर्शपूर्णमास - इष्टियागों का है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सोमयागों में अग्निष्टोम प्राचीन है। इसका प्रमाण तो निरूक्त का "पूर्व याज्ञिक" शब्द है[2] जो पूर्व और उत्तरवर्ती याज्ञिकों के मतभेद को व्यक्त करने में आया है।

अगर मुख्ययज्ञों की दृष्टि से देखा जाय तो कुल 12 यज्ञ है- 6 हविर्याग-अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास, चतुर्मास्यों में वैश्वदेव, वरूण, प्रघास, साकमेध और शुनासीरीय और सोमयाग-अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्व-मेध, तथा इष्टकायाग अग्निचिति। इन 12 यागों के कई अंगभूत याग थे, जो बाद में स्वतन्त्र याग बने। जैसे-पितृयज्ञ, त्रयम्बकऽ हविर्याग, साकमेध अग्नि-षोमीय पशुयाग और प्रवर्ग्य अग्निष्टोम के अंगयज्ञ है, इनमें पहला तो क्रमश:

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. तैत्तिरीय संहिता भाष्य 2/7

2. निरूक्त 7/6

स्वतन्त्र पशुयागों का प्रकृतियाग ही बन गया, तथा दूसरा बाद में स्वतन्त्र याग के रूप में उत्पन्न होकर बाद में सोमयागों का अंग स्वरूप याग बना। वास्तव में सौत्रामणि यज्ञ भी राजसूय का अंगयाग पूर्व में रहा हो, ऐसा संभव है।

कुल मिलाकर देखा जाय तो स्वतन्त्र सत्ता सम्पन्न इन चार यागों पितृयज्ञ, पशुयाग, प्रवर्ग्य और सौत्रामणी को मिलाकर 16 यज्ञ होते हैं, ऐसा विवरण स्वयं मिलता भी है। इसके अलावा अग्निष्टोम के 5 विकृतियाग और भी है- उक्थ्य अतिरात्र, षोडशी, अत्याग्निष्टोम, आप्तोर्याम।[1] लेकिन शतपथ[2] और सूत्र ग्रन्थों में द्वादशाह, षडहयाग, अभिप्लव, विश्वजित आदि अनेक अन्य सोमयागों का भी वर्णन है। वस्तुत: सोमयागों का जो विस्तार हुआ, उसी आधार पर उसका तीन भागों में विभाजन किया गया है- एकाह, अहीन और सत्र। एक दिन में ही तीनों सवनों को पूर्ण कर लेने वाला एकाह, तथा एक से अधिक दिनों में पूर्ण होने वाला अहीन - यह द्विरात्र से त्रयोदश रात्र तक होता है, और 13 से अधिक रात्रियों से लेकर साल भर तक होने वाला सत्र कहलाता है। मगर इसमें तथा मूल अग्निष्टोम में थोड़ा सा अन्तर भी है।

- - - - - - - - - - - - - -

1. यज्ञ तत्व प्रकाश - पृष्ठ 81-86, वाजपेय का भी वर्णन आया है।

2. शतपथ ब्राह्मण - 4/5/4/14

अग्न्याधान स्वतन्त्रयज्ञ न होकर भी सब यज्ञों का आधारभूत यज्ञ है और यह स्वतन्त्रफल देने वाला[5] होने के कारण अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी रखता है। इसलिए इसकी तीन विधियाँ -अग्न्याधान,अग्न्युपस्थापन और पुनराधान - को भी स्वतन्त्र प्रकरणों के रूप में वर्णित किया जाता है।

इस प्रकार अगर उक्त 16 मुख्य बातें यज्ञों में पुरुषमेध और सर्वमेध तथा अग्न्याधान की तीनों विधियों को भी परिगणित किया जाय तो कुल यज्ञों की संख्या 21 हो जाती है। "गोपथ ब्राह्मण"[1] में यज्ञ को एकविंशति संस्था वाला कहा भी गया है, किन्तु किन-किन यज्ञों को इसमें समाविष्ट किया गया है यह कहना कठिन है,क्योंकि नामोल्लेख न किया जाना इसका प्रधान कारण है।

अग्निहोत्र से सर्वमेध तक यज्ञ की इसी बात को "गीता"[2] में तपोयज्ञ, योगयज्ञ, प्रणायज्ञ, स्वाध्याय-ज्ञान यज्ञ आदि मानसिक यज्ञों की ओर जो स्वतन्त्र मोड़ दिया गया है वह भी यज्ञ विकास का एक मुख्य कारण है।

"अग्निष्टोम"- वस्तुतः अग्नि ही अग्निष्टोम है, इसका निर्वचन करते हुए कहा गया है कि इससे अग्नि की स्तुति की जाती है, इसलिए यह अग्निष्टोम है।[2] अग्नि के अर्चन से जिस जिस प्रयोजन की सिद्धि होती है वे सभी इस अग्निष्टोम से भी साध्य हैं, इसलिए इसे ब्रह्म,ब्रह्मवर्चस, आत्मा,वीर्य,प्रतिष्ठा की संज्ञा दी गयी है। इसके यजन से देवों ने भूलोक पर विजय प्राप्त की थी। इसे स्वर्ग प्रदाता भी कहा गया है।[3] इससे समृद्धि मिलती है। सोमयागों में यह प्रथम है, यही कारण है कि इस यज्ञ को यज्ञ मुख की संज्ञा से भी अभिहित

1•गो०ब्रा० पू०भा०- 1/12,5/15;2•ऐतरेय ब्रा० 3/45;3•ता०ब्रा०-4/2/11।

किया जाता है। इसी यज्ञ द्वारा यजमान "सर्व" की प्राप्ति कर सकता है।[1] इस से ही अन्य सोमयागों को करने का अधिकारी बनता है। इसलिए यह ज्येष्ठयज्ञ भी कहा जाता है।[2] यही संवत्सर अर्थात काल भी है। इसके यजन से संवत्सर की प्राप्ति होती है। ज्योतिस्वरूप इस अग्निष्टोम का यजनकर्ता ज्योतिर्मय पुण्यलोक को प्राप्त करता है।

अग्निष्टोम के ये विविध प्रयोजन समग्ररूप में अन्यान्य ब्राह्मण ग्रन्थों मे ही अधिकता से उपलब्ध है। तैत्तिरीय मैत्रायणी, और काठक संहिताओं के अग्निष्टोम सम्बन्धी ब्राह्मण-भागों में अग्निष्टोम के पूर्व प्रयोजन की अपेक्षा उसकी विधियों में ही प्रयोजन पृथक पृथक रूप में अधिक स्पष्टता और विस्तार के साथ वर्णित है। बहुधा इसी तरह इसे समग्र रूप में संवत्सर, यज्ञमुख और अग्नि के रूप में अवश्य वर्णित किया गया है। विधियों और क्रियाओं का ही प्रयोजन उल्लिखत है। अग्निष्टोम के दीक्षा संस्कारों का प्रयोजन यजमान को गर्भस्थ शिशु के रूप में प्रदर्शित करना है, जिसमें परिमापित यज्ञस्थल योनि है, दीक्षित यजमान गर्भ है, नीचे विध कृष्ण जिन जरायु हैं, ऊपर ओढ़ा हुआ वस्त्र अम्ब है, और कटि पर बंधी मेखला नाभि है।[3] सोम को खरीदने का अभिप्राय इस शरीर के लिए वाणी द्वारा सोम अर्थात ज्ञानयश आदि प्राप्त करना है। तीन दिन तक उपसद विधि के

- - - - - - - - - - - -

1• मैत्रायणी संहिता- 4/4/10

2• ताण्ड्य ब्राह्मण - 20/11/8

3; तैत्तिरीय संहिता - 6/1/3; शतपथ - 3/1/3

अनुष्ठान द्वारा तीनों लोकों में सम्पर्क स्थिति प्राप्त की जाती है, उपरवों के निर्माण से प्राणों का आधान किया जाता है। प्रयोजन की इस अनेकता में स्पष्ट: तो कोई एकता वर्णित नहीं है। किन्तु प्रधानता की दृष्टि से सम्भवत: इस याग को उद्देश्य प्राणि के उत्पन्न होने तथा इसके प्राणों विविध शक्तियों और क्षमताओं से संयुक्त होने की स्थिति को चित्रित करना भी है।

साममन्त्र संख्या 35 ऋचा पर सामगार अग्निष्टोम कहलाता है।[1] इस साम के अन्तिम होने से यह याग कहलाता है। संस्था का अर्थ होता है- अन्त। यह सबसे अन्तिम साम होता है। नामकरण का यही कारण है। यह याग 5 दिनों तक चलता है। यह प्रकृति याग है, 12 शस्त्रों का प्रयोग इसकी खासियत है।

काल:- शतपथ[2] ब्राह्मण में कहा गया है कि अमावस को अग्न्याधान करके आगामी पूर्णिमा को पूर्णमासयाग और उससे अगली अमावस को दर्शयाग करने के उपरान्त दीक्षा लेकर सोमयाग का प्रारम्भ किया जाता है, और अग्निष्टोम याग सोमयाग ही है। मानवश्रौतसूत्र और यज्ञतत्वप्रकाश में अग्निष्टोम को वसन्त ऋतु में करने का वर्णन है।[3] सायण के अनुसार इसके लिए किसी भी ऋतु विशेष या नक्षत्र विशेष का विधान नहीं है।[4] हिलेब्रांट यह अमावस्या वसन्त पूर्णिमा पर मनाये जाने वाला पर्व है।

- - - - - - - - - - - - - -

1. ऋग्वेद - 8/48/1; 2. शतपथ ब्राह्मण- 11/1/1/7

3. मानव श्रौतसूत्र -2/1/1/1, यज्ञ तत्व प्रकाश -पृ055-56

4. शतपथ ब्राह्मणभाष्य -11/6

देवता हवि -

इस सुविस्तृत अग्निष्टोम यज्ञ में एक प्रधान सोमयाग के अतिरिक्त -4 इष्टियाँ, 4पशुयाग, और एक उपसदोविधि है, इन सबके देवता और हविअलग-अलग हैं।

"प्रधानसोमयाग"- इसमें तीन सवन होते हैं।

(क) "प्रातः सवन" - यह अग्नि देवता का है। इसमें इन्द्रवायु, मित्रावरुण, आश्विन, इन्द्र-अग्नि, और विश्वदेवों के लिए सोमग्रह लेते हैं। इन देवताओं के अतिरिक्त उपांशु अन्तर्याम, शुक्रामन्थी, आग्रायण, उक्थ्य, ध्रुव, और ऋतुओं के लिए भी सोमग्रह किये जाते हैं। इस सवन को हवि ब्रीहि का पुरोडाश जौ के धाना, करम्भ और परिवाप तथा दूध की पयस्या है।"[1]

(ख) "माध्यंदिनसवन"- यह इन्द्रदेवता का सवन है। इसमें मरुत्वतीय इन्द्र और महेन्द्र देवता के, तथा पूर्ववत शुक्रामन्थी, आग्रायण और उक्थ्य के सोमग्रह लिए जाते हैं।

(ग) तृतीय सवन - यह विश्वदेव का है। इसमें आदित्य सविता, विश्वदेवों के पात्नीव्रत, हारियोजन, अतिग्राह्य, षोडशी, दधि और आदम्य अंशु के नये सोमग्रह होते हैं और पूर्व के आग्रायणी तथा उक्थ्य् के लिए भी पुनः किये जाते है।

हवि माध्यंदिन सवन की तरह ही होती है। प्रातः और तृतीयसवन के कुछ सोमग्रहों मे दूध, दही, धाना और पयस्या भी मिलाई जाती है।

- - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/7 से लेकर 7/2 तक प्रातः सवन का वर्णन है।

2•<u>अंगयाग</u> - इष्टियाँ चार प्रकार की है-

§अ§ <u>दीक्षणीयेष्टि</u>- के देवता अग्नि, विष्णु है और हवि एकादशकपाल पुरोडाश तथा दूध का चरु है।

§आ§ प्रायणीयेष्टि - इसके प्रधान देवता अदिति है, और अवान्तर देवताओं में पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम, सविता है। हवि दूध का चरु और आज्य है।

§इ§ आतिथ्येष्टि - इसके देवता विष्णुरूप में सोम है। हवि नवकपालपुरोडाश है ।

§ई§ उदवसानीयेष्टि- इसके देवता और हवि प्रायणीयेष्टि के समान है। परन्तु इसका प्रधान देवता अग्नि है जिसके लिए आठ और पांच कपालों के पुरोडाश को विशिष्ट हवि भी है।

§ब§ पशुयाग भी चार हैं-

§अ§ अग्निषोमीय पशुयाग के देवता अग्नि सोम है, हवि अज है।

§आ§ इस पशुयाग में अग्निष्टोम में आग्नेय अज, उक्थ्य में ऐन्द्राग्न अज, षोडशी में ऐन्द्र वृषा और अतिरात्र में सारस्वतमेषी होते है।

§इ§ "पशवेका दशिनी" में अग्नि, सरस्वती, सोम, पूषा बृहस्पति, इन्द्र, मरुत सविता, वरुण, इत्यादि 11 देवता हैं। हवि रूप में इनके लिए एक-एक पशु है सारस्वती के लिए मेषी, इन्द्र के लिए वृष्णि और वरुण के पेत्व है । शेष आठों के लिए अलग-अलग रंगों वाले 8 अज है।

§ई§ काम्य पशुयाग के देवता मित्रावरुण, बृहस्पति और विश्वदेव है जिनके लिए एक-एक वशा की हवि होती है।

§स§ उपसद विधि में अग्नि,सोम,और विष्णु देवता है, तथा आज्य की हवि है।

उक्त प्रधान यागों तथा अंगयागों के अलावा एक अन्य संक्षिप्त अनुष्ठान भीप्रधान सोमयाग के तृतीयसवन में पाया जाता है। इसका देवता सोम है, और हवि चरू है आज्य है, परन्तु इसमें इष्टि की विस्तृत विधियाँ नहीं है।

अग्निष्टोमयाग विधि

__पूजन विधि__- इनकी विधियों का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार देखा जा सकता है जो निम्नवत है-

__यज्ञशाला का निर्माण__- इस सोमयाग के अनुष्ठान की इच्छा से यजमान द्वारा ऋत्विक् वरण हो जाने पर यथासमय पूर्वोक्त विधि से "गार्हपत्य" "दक्षिणाग्नि" और "आहवनीय" अग्नियों का आह्वान किया जाता है। इसमें "अग्निहोत्र" और "दर्शपूर्णमास" आदि किसी अन्य यज्ञ का अनुष्ठान निषिद्ध है। इसी अग्न्याधान स्थल की आसपास की भूमि सहित चारों ओर से आवृत्त कर "प्राचीन वंश" नामक यज्ञशाला का निर्माण किया जाता है। जैसे- पूर्वाभिमुखी , सामने से ऊँची और पीछे से नीची होती है, और उसके चारों कोनों में सुराख रखते हुए प्रत्येक दिशा में एक-एक द्वार होता है।

__दीक्षणीयेष्टि__ -यजमान और उसकी पत्नी यागानुष्ठान के संकलल्पपूर्वक दिन भर का उपवास रखते हैं। अध्वर्यु इन्हें अगले दिन[1] दीक्षा देता है"। सर्वप्रथम

- - - - - - - - - - - - - -

1. मानव श्रौत सूत्र - 2/1/1/14 के अनुसार यह दिन अमावस या सोमसवन से पूर्व के किसी पक्ष का कोई भी दिन हो सकता है।

दम्पती दोक्षाकालीन विहित भोजन मधु मिश्रित दही खाते हैं। तत्पश्चात दोक्षणीयेष्टि के लिए अग्निविष्णु का एकादशकपालपुरोडाश और घो में बने चरु की हवि तैयार की जाती है। यजमान द्वारा सप्तहोतृमंत्र जपने के बाद उससे सम्बन्धित आहुति दी जाती है और । सम्भार यजुषों से 4 आहुतियाँ देकर इस इष्टि का यजन प्रकृति भागवत किया जाता है।

दोक्षासंस्कार -

तत्पश्चात यजमान के दोक्षासंस्कार किये जाते हैं। पहले यज्ञ शाला के बाहर पृष्ठ्यादेश के उत्तर में अध्वर्युयजमान के सिर पर जल छिड़ककर बालों पर दर्भ रखकर बाल काटता है। यजमान इस समय मंत्र जपता है। सिर के सारे बाल मूँछ, नाखून आदि कटवा कर यजमान स्थिर को पूर्व के द्वार से और प्रतिप्रस्थाल यजमान पत्नी को पश्चिम द्वार से यज्ञशाला में प्रविष्ट करवाकर उन्हें यथास्थान बैठाते हैं। पुन: अध्वर्यु आहवनीय में अधोत यजुषों को चार दोक्षाहुतियाँ स्रुव से, पाँचवी स्रुचा से और छठी "औद्ग्रमण" नामक पूर्णाहुति देता है, और आहवनोय के पोछे दो कृष्णा जिनों के मांसवाले भागों को परस्पर मिलाकररोम वाले भाग को ऊपर की ओर और ग्रीवा भाग को पूर्वा भिमुख रखकर विछाता है। कृष्णा जिन की श्वेतकृष्ण वर्ण वाली रोमपंक्तियों को छूकर यजमान को उस पर चढ़कर उसे एक उत्तरीय से ढककर उसकी कमर पर मौंजी मेखला बाँधी जाती है,और उसकी पत्नी को कटि भाग में योक्त्र अमन्त्रक ही बाँधा जाता है। यजमान को

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१॰ मानव श्रौत सूत्र -2/१/1/13

उसकी मुख तक ऊँचाई जितना एक डंडा देकर अध्वर्यु एक मंत्र जपता है, और यजमान से मुष्ठो बंधवाकर वाकनियमन करवाता है। यह दण्ड-सोम -सवन को पूर्व रात्रि को मैत्रावरुण-ऋत्विक् को दे दिया जाता है।

पुन: अध्वर्यु इस दीक्षित यजमान का 3 बार नाम लेकर देवों और लोकों से उसका परिचय करवाता है। शाम को यजमान नक्षत्रोदय होने पर उन्हें देखकर बाणी बोलता है और जल से हाथ धोकर दूध पीकर अपने नाभि प्रदेश को छूते हुए मंत्र जपता है सोते समय और पुन: प्रात: काल जगने पर अग्नि से ब्रत पालन की प्रार्थना को जाती है। यजमान इस रात को अग्नि के पास रहकर जागरण करता है, यह उसका उपवस्थ दिन होता है, प्रात: काल हो जाने पर पूर्व कीभाँति दूधपीकर यजमान याचकों को नाना प्रकार को दक्षिणा देता है।

दीक्षित यजमान हेतु दिन में भोजन दीक्षितोपयोगी बचनों के अतिरिक्त सब बाणियों के बोलने और सीधा चित्त सोने का निषेध है। कृष्णाजिन पर ही सोने और बैठने का विधान है। दूसरों के लिए दीक्षित के अन्न को खाना और उसकी निन्दा करने का भी निषेध किया गया है।

यही अग्निष्टोमोपसोमयाग का दीक्षा कार्य है।

"प्रायणीयेष्टि"

दीक्षा से अगले दिन दक्षिणादि का कार्य कर चुकने के बाद इसका अनुष्ठान किया जता है। यज्ञ को प्रधानविधि इसमें पूर्व, सर्वप्रथम अनुष्ठान होने के कारण ही इसका नाम प्रायणीयेष्टि है। इसमें अदिति देवता के लिए दूध में चरू को हवि बनाई जाती है। आहवनीय में प्रयाजों का यजन करके अग्निषोमीय आज्य भागों को आहुति रहित ऋचामात्र से अनुष्ठित किया जाता है। पूर्वार्द्ध में प्रथमा स्वस्ति दक्षिणार्ध में अग्नि,पश्चार्ध में सोम और उत्तरार्ध में सविता के लिए आज्य की आहुति दी जाती है और मध्य में अदिति के चरू को आहुति दी जाती है, शेष सम्पूर्ण अनुष्ठान प्रकृतियागवत है।

"सोमखरीदकर लाना"

इसके बाद एक स्वस्थ, अरूण वर्ण का ,श्वेतोपकाशा,भूरे रंगों वाली गाय को वाणी के प्रतीक रूप में सोमक्रयण केलिए यज्ञ मंडप में लाया जाता है। अध्वर्यु दर्भ में बंधे हिरण्य को चतुर्गृहीत आज्य में रखकर उस सोमक्रयणी गाय कोदेखते हुए आज्य की आहुति देकर, उसमें से हिरण्य निकालकर गाय की स्तुति करता है। सोम के मूल्य के रूप में गाय को सब बन्धुजनों से मान्य करवाकर, गाय की प्रदक्षिणा कर,उसे पूर्व की ओर छह कदम चलाता है और गाय के सातवें पदचिन्ह को छूकर उस पद में हिरण्य रखकर आहुति देता है। आहुति से युक्त उस पदचिन्ह के चारों ओर से आमंत्रक ही रेखा खींचकर उस पद को घृत युक्त मिट्टी को पुन: अध्वर्यु को देता है और अध्वर्यु उसे गार्हपत्यायतन के पास डालकर सोमक्रयणी गाय और यजमान-पत्नी में परस्पर दृष्टि निक्षेप करवाता है।

पुन: इसके बाद यजमान और अध्वर्यु और यजमान गाय को लेकर इस स्थल पर जाते हैं जहाँ बैल के रोहित चर्म पर सोम रखकर स्थान को चारों ओर से घेर करके सोम विक्रेता बैठा होता है। उस विक्रेता को ही सोम को चुनकर साफ करने का आदेश दिया जाता है। यजमान और अध्वर्यु द्वारा सोमविचयन का निषेध है। सोम के साफकर लेने के बाद अध्वर्यु और यजमान इस आवृत्त स्थल में प्रविष्ट होते हैं। अध्वर्यु हिरण्ययुक्त हाथ से सोम को छूकर पाँच बार मन्त्रपूर्वक और पाँच बार अमन्त्रक ही अंजलिसे नापकर और प्रत्येक बार क्रमश: एक अंगुली को हटाकर अंजलि बनाते हुए सोम को लेता है, बाद में बहुत सा सोम, अंजलि से मापे बिना भी लिया जाता है। इस सब परिमापित सोम को एकवस्त्र में बाँधकर ढीली सी गाँठ दी जाती है। पुन: वाक् रूपी गाय के एक-एक अंग को सोम के मूल्य के रूप में वर्णित करते हैं तथा सोम विक्रेता से सौदा किया जाता है। विक्रेता द्वारा सोम को उससे भी अधिक मूल्यवान कहने पर अध्वर्यु गाय की महत्ता का वर्णन करता है।[1] इससे विक्रेता सन्तुष्ट हो जाता है। विक्रेता को हिरण्य अजा, वस्त्र, दो बैल, ऋषभ्, बछड़े सहित साँड़ और दो गायों को देकर सोम को खरीद लिया जाता है और सोमरक्षकों को इन वस्तुओं की सुरक्षा का आदेश देते हैं।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. इस महत्ता में गाय की दस वस्तुएँ -कच्चा दूध, पकाया दूध दही, छाछ, जामन, मक्खन, घी, फटे दूध का पनीर सा कठिन द्रव्य और उससे निकला पानी- गिनाई जाती हैं इन्हीं दस चीजों के बदले विक्रेता को हिरण्य आदि दस चीजें दी जाती हैं। --शतपथब्राह्मण 3/3/4/2

अध्वर्यु सोम को लेकर मंत्र जपता हुआ सोम को यजमान की दायीं जंघा पर रखने के बाद उसे उठाकर खड़ा होता है और गाड़ी की ओर जाकर उसमें बिछे कृष्णाजिन पर सोम को रखकर, सोमयुक्त शकट को उपासना करके, गाड़ी को वस्त्र से ढ़कता है। गाड़ी की उत्तरी धुरी और ईषा को छूकर , गाड़ी के अग्रभाग को ऊपर उठाते हुए उसमें दो बैलों को अमन्त्रक जोता जाता है।[1] क्रीत सोम को यज्ञशाला में ले जाये जाते समय यजमान शान्ति के लिए जप करता चलता है। यजमान के प्रतीकस्वरूप एक हृष्ट-पुष्ट बकरे को सोम के सामने लाकर सोम को सौंप दिया जाता है। इससे मानो-यजमान अपने को बेचकर सोम को प्राप्त कर लेता है, और इस तरह उऋण हो जाता है, अब दीक्षित के घर में भोजन किया जा सकता है। यह बकरा अब {अग्नीषोमीय} अग्नि और सोम का ही कहलाता है। इस पशु का भक्षण यजमान केलिए निषिद्ध है।

"आतिथ्येष्टि" -

चूँकि यह इष्टि अतिथि सोम के स्वागत में की जाती है। अतः इसे "अतिथ्येष्टि" कहा जाता है। प्राचीनवंश के सामने स्थित सोमवाहक शकट का जब एक बैल खोल दिया जाये, तब यजमान -पत्नी से इस इष्टि की हवि निकलवाई जाती है। पुनः अग्निमंथन किया जाता है। अध्वर्यु अग्निमंथन शकल पर दो दर्भों को रखकर उन पर पहले अधरारणि को रखता है पुनः फिर उत्तरारणि को घी से चिकना करके अधराधि के ऊपर रखता है। दोनों अरणियों को तीनबार रगड़कर अग्नि उत्पन्न की जाती है। इस प्रसूत अग्नि को आहवनीय में डाल देते हैं, बाद में शकल को भी अग्नि में फेंककर

स्रुव से एक आहुति दी जाती है।

यहाँ सोम को विष्णु ही माना गया है। अतः इस इष्टि में विष्णु के लिए नौ कपालों वाले पुरोडाश को हवि तैयार की जाती है।

इस तरह पूर्वविवेचना में हम सोमयाग के अंतर्गत राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध का वर्णन कर चुके हैं, पुनारावृत्ति करना किसी भी तरह उचित नहीं है। चूँकि अग्निष्टोम तथा यजनविधि का विवेचन मुख्य था,, संक्षेप में प्रस्तुत हुआ। इस प्रकार अब हम अग्निष्टोम के 5 विकृति यागों का वर्णन करेंगे जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्नवत हैं-

"उक्थ्य"- यह उक्थ्य नामक साम से समाप्त याग है। इसमें पहले याग से अधिक तीन शस्त्र होते हैं। अतः शस्त्रों की संख्या 15 होती है। यह अधिक तीनों शस्त्र उक्थ्यशास्त्र कहलाते हैं"।[1]

"षोडशी"- पुनः उक्थ्य नामक साम के अनन्तर एक षोडशी नामक स्तोत्र और भी विद्यमान रहता है। पन्द्रह स्तोत्रों को गर्भित कर एक अधिक स्तोत्र की सत्ता इसकी मुख्य विशेषता होती है, दूसरी मुख्य बात यह है कि षोडशी स्वतन्त्र क्रतु नहीं है। अग्निष्टोम के समान इसका अनुष्ठान पृथकरूप से न होने का यही कारण होता है।

"अतिरात्र"- षोडशीस्तोत्र के बाद अतिरात्र -संज्ञक सामों का गायन इस याग के अन्त में होता है। इसी कारण यह "अतिरात्र" नाम से विख्यात है। अब तक निर्दिष्ट इन चारों यागों का सामूहिक अभिधान"ज्योतिष्टोम" है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] के अनुसार त्रिवृत्त,पन्चदश, सप्तदश तथा एकविंश

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण - 1/5/11

2. "कातीत श्रौत सूत्र"-विद्याधर अग्निहोत्री-पृष्ठ 42-75

इन चारों स्तोमों को "ज्योति" पद के द्वारा संकेतित किया जाता है। इन यागों में इन्हीं को प्रधानता होने से इसे अतिरात्र नाम से अभिहित किया जाता है।

"अत्यग्निष्टोम"जिसमें अग्निष्टोम के बाद बिना किये ही षोडशी का विधान किया जाता है, यह याग ही है। वाजपेय तथा आप्तोर्याम- पहले की ही भाँति ज्योतिष्टोमों में आवापोद्वाप से निष्पन्न नवीन संस्थाएँ हैं। इन सबकी प्रकृति होनेसे"अग्निष्टोम" का ही मुख्य वर्णन श्रौतसूत्रों में विशेष-रूप से दिखायी देता है। सोम का तीन सवन होता है- प्रातः सवन, दूसरा-माध्यन्दिनसवन और तीसरा है- सायं सवन। यह सवन कर्म ही "सुत्या" के नाम से जानी जाती है। इन यागों के अभावा अन्य यागों में गवायमान (सत्र), वाजपेय, राजसूय तथा अश्वमेध मुख्य है।

"व्रात्यस्तोम"-

सावित्री अर्थात गायत्री से पतित ब्राह्मण और क्षत्रियों को व्रात्य नाम से पुकारते थे। जो नाममात्र के ब्राह्मण (ब्रह्मबन्धु) और क्षत्रिय थे और पीढ़ियों से वैदिक संस्कारों से रहित थे, उनकी शुद्धि"व्रात्यस्तोम" से की जाती थी, पुनः इस तरह वे व्यवहार के योग्य हो जाते थे। कात्यायन श्रौतसूत्र में इसका वर्णन हुआ है। इसी सम्बन्ध में यहाँ "व्रात्यधन" की गणना की गयी है। जिसमें "व्रात्यों" का वेश एवं सामग्री की वस्तुओं की गिनती की गयी है। व्रात्यस्तोम यज्ञ की समाप्ति हो जाने के बाद दक्षिणा दान के समय में विधान है ये व्रात्यधन मगधदेशीय ब्रह्मबन्धु को दिये जाँय अथवा उन लोगों को दिया जा, जो व्रात्य आचरण से अभी विमुख अर्थात् विरत

* ताण्ड्य ब्राह्मण - 6-9/2

न हुए हों। कुल मिलाकर अगर देखा जाय तो इसका मतलब यह लगता है कि व्रात्यलोग तो व्रात्यस्तोम के अन्त में व्रात्यभाव से रहित होकर शुद्ध, व्यवहार के योग्य हो जाते थे। इसलिए ही उनके पापमय जीवन के चिन्हों को उन लोगों को देने की व्यवस्था है जो अपने पुरानी दशा के अनुयायी हों। चूँकि क्षत्रिय तो दान लेने का अधिकारी नहीं होता, फलतः व्रात्यक्षत्रबन्धु अपना दानः मगधदेशीय ब्रह्मबन्धु को अर्पण करता था अर्थात् ब्रह्मबन्धु को ही दान दिया जाता था। कात्यायन श्रौतसूत्र का यही विधान है।"

पुनः व्रात्यधन के अन्तर्गत जिन वस्तुओं की गणना की गयी है वे निम्नवत हैं-

1. तिर्यङ्नद्धम उष्णीसम -टेढ़ी बंधी हुई पगड़ी। 2. प्रतोद- तीरवीनोक 3. ज्याह्नोडो5योग्यं धनुः (बिना प्रत्यंचा का बेकार धनुष। इसका मतलब है। 4. "वासः कृष्णशंकदु" (काले सूत से बनी हुई कबरें रंग की या काले किनारे की धोती। 5. रथ - जो मार्ग-कुमार्ग में जा सके, जिसमें लकड़ी के पट्टे बिछे हों तथा जिसमें कुछ आचार्यों के मत में काँपते हुए दो घोड़े या खच्चर जुते हों। 6. निष्को राजतः (चाँदी का बना हुआ गले का चाँद) 6. भेड़ की दो छालें (जिनके दोनों पार्श्व में सिलाई हो और जो काले तथा सफेद रंग की हों, ये छाले उस व्रात्य की होती हैं जो सबसे नृशंस (निर्दय अथवा प्रसिद्ध) या सबसे धनवान या सबसे बड़ा विद्वान हो।

- -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 17/1/1

यह "व्रात्यस्तोम" में. गृहपति बनाया जाता है। दूसरे व्रात्यों के केवल एक ही छाल होती है और रस्सी के समान मोटे किनारे वाली, काली या लाल पाड की, दो छोर की धोती होती है। 8• दामनी द्वे ‌{कमर या पेट को बाँधने के दो रस्से}, 9• दो जूते {जिनके चमड़े के कान हों , पंजाबी जूतों की तरह}।

सोमयाग के प्रधान तथा विकृति याग तथा विधि एवं यज्ञीय प्रक्रिया के विवेचन के पश्चात पन्चाग्नियों का संक्षिप्त विवेचन करना भी अभीष्ठ होगा, जो इस तरह से है-

यज्ञ में पन्चाग्नियों में आहुति प्रदान मुख्यतया विहित किया गया है, याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से पन्चाग्नियों के नाम तथा वेदी पर निर्दिष्ट स्थान इस प्रकार है- श्रौताग्नि - यह वह अग्नि है जिनमें श्रौत सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित यागानुष्ठान का विधान किया गया है। ये तीन प्रकार के हैं-"आहवनीय", "गार्हपत्य" और "दक्षिणाग्नि", इनकी स्थापना एक ही दिन में की जाती है। प्रत्येक अग्नि का कुण्ड भिन्न-भिन्न आकार का होता है। आहवनीय का कुण्ड चौकोर होता है, गार्हपत्य अग्नि का कुण्ड गोलाकार होता है और दक्षिणाग्नि का अर्धचन्द्र के आकार की भाँति होता है। इसमें मुख्य: यज्ञ कुण्ड आहवनीय है, जिसमें देवताओं के उद्देश्य से आहुति प्रदान की जाती है।गार्हपत्य- यह अग्नि साधारण रूप से पवित्र कर्म है। व्यवहार में लायी जाती है,और इसमें पत्नी जन्य होम भी किये जाते हैं। दक्षिणाग्नि में पितृकर्म की साधारणत: व्यवस्था मान्य है। श्रौत कर्म के लिए श्रौताग्नि की आवश्यकता होती है और स्मार्त कर्म के लिए एकमात्र

गृहाग्नि जरूरी होती है। "साम्याग्नि" इन उपर्युक्त चारों अग्नियों से पृथक पंचम अग्नि है। इन पन्चाग्नियों के दूसरे नाम भी शास्त्रों में प्राप्त होते हैं।

" यज्ञों का स्वरूप एवं वैशिष्टय"

समस्त ब्राह्मण साहित्य में यज्ञों की अतिप्रशंसा की गई है। दूसरी तरफ देखें तो यह भी कहा मिलता है कि "समस्त कर्मो से यज्ञ श्रेष्ठ कर्म है"।[1] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो यह दिखायी देता है, अर्थात प्रत्यक्ष है, वही प्रजापति है"।[2] इन्द्र को यज्ञ की आत्मा माना गया है। उन्हें अर्थात इन्द्र को यज्ञ का देवता कहा गया है।[3] इसे देखने के अनन्तर हमें विष्णु प्रजापति आदि देवताओं के साथ भी यज्ञों के विवरण का विवेचन देखने को मिलता है। यज्ञ का अपना कोई स्वरूप तो है ही नहीं, वास्तव में विभिन्न

देवताओं को दी जाने वाली आहुतियाँ, पुरोडाश आदि निर्वप-नादि की क्रियाओं को जिस आयोजन विशेष के अन्तर्गत किया जाता है, वही यज्ञ है। इसलिए देवताओं का यज्ञ के साथ समीकरण किया जाता है,

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. यज्ञों वै श्रेष्ठतमः कर्मः शतपथ ब्राह्मण- 1/7/1/5
2. शतपथ ब्राह्मण - 4/3/4/3,1
3. शतपथ ब्राह्मण - 9/5/1/33

यज्ञ देवताओं की आत्मा एवं समस्त प्राणियों एवं देवताओं की आत्मा है। "यज्ञ को देवताओं का अन्न भी कहा गया है"।[1]

यज्ञ को देवताओं का रथ भी कहा गया है तैत्तिरीय ब्राह्मण में यज्ञ को देवताओं का अपराजित नामक आयतन कहा गया है। ब्राह्मण युग के देवताओं के यज्ञ प्राण स्वरूप है। अन्न ही प्राण होता है, देवताओं के अन्न हवियों के प्रदान करने वाला यज्ञ ही है, इसलिए ही उसे आत्मा प्राण इन शब्दों से संशोभित किया गया है।

कहीं कहीं यज्ञ की पुरुष-प्रत्य से तुलना की गयी है पुरुष ही यज्ञ है, यह भावना अनेक स्थलों पर व्यक्त की गयी है। यह पुरुष सम्मत है। वास्तवमें बाहर से देखने पर तो यज्ञ केवल किसी देवता विशेष के लिए द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप है, परन्तु यह विलक्षण रहस्य से संवलित है। जिस कर्म से शुद्धि देह शुद्धि, इन्द्रिय शुद्धि अहंकार एवं चित्तशुद्धि होती है, जिस कर्म का फल स्वार्थ की बजाय पदार्थ होता है जिस कर्म को करने से नया आवरण नहीं बनता, बल्कि पहले का आवरण क्षीण हो जाता है, जो जीवन मार्ग को कल्याण के मार्ग में पहुँचाने की सहायता करता है, और अन्त में महान ज्ञान को उपलब्धि कराता है, वही यज्ञ है।

"गीता" के अनुसार "निष्काम भाव से किया गया, फलाकांक्षा से रहित योगस्थ कर्म या स्वभाव सिद्ध कर्म ही यज्ञ कहलाता है। यानी त्याग एवं ग्रहण का सिद्धान्त इसका मुख्य ध्येय है। जो असार होने से हेय है,

- -

1. शतपथ ब्राह्मण - 2/4/2/1

उसका त्याग करना तथा सारवान होने से जो उपादेय है, उसका ग्रहण करना - ये दोनों क्रियाएँ ही यज्ञ के स्वरूप को प्रतिपादित है। अग्नि में देवाभिमान को हवन कर शुद्धसत्व में प्रतिष्ठित होना ही यज्ञ का प्रधान उद्देश्य है। सृष्टि के कार्य में यज्ञ का ही साधन आवश्यक होता है,यह एक वैदिकतत्व है जिसका विवरण पुरुष सूक्त और परिवर्धन श्रीमद भगवतगीता में मिलता है।"[1] प्रजापति ने भूतों की सृष्टि तथा यज्ञ का सर्जन एक साथ किया और देवमानवों के परस्पर साहाय्य भाव का आदर्श उसी आदि कालमें स्थापित किया।

संसार में जीव ही अपने स्वरूप से प्रधान है,इन जीवों की सृष्टि होती है, अन्न से अन्न उत्पन्न होता है, पर्जन्य से पर्जन्य उत्पन्न होता है, यज्ञ से यज्ञ उत्पन्न होता है, कर्म से कर्म तथा ब्रह्म से ब्रह्म उत्पन्न होता है, अक्षर परमेश्वरसे उत्पन्न होता है।

यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य देवताओं का आहार प्रस्तुत करता है, जिससे वे पुष्ट होते हैं और देवता मनुष्यों के कल्याण के लिए अनेक कर्मों का सम्पादन स्वयं करते हैं। भगवान के सच्चे भक्तों का कभी अमंगल नहीं हो सकता है। मानव के जीवन के अनेको अंगों में यज्ञों की प्रमुखता कोई कही भी किसी भी क्षेत्र में देख सकता है,यह मानव-जीवन रूपी मरुभूमि में मस्तहरियाली

- - - - - - - - - - - - - -

1. श्रीमदभगवदगीता- तृतीय अध्याय, श्लोक संख्या-10-16

की तरह है, जो मानव जीवन को खुशबुओं से भर देता है। इसलिए यज्ञ की आराधना करना मानव के मंगल का प्रधान पन्थ है। भगवान का यह मङ्गलमय उपदेश यज्ञ की उपदेयता का मूल मंत्र कहा जाय तो अभीष्ट ही होगी।[1]

यज्ञ का मुख्य फल तो स्वर्ग की प्राप्ति होता है। नाना प्रकार के उद्देश्यों से यज्ञों का सम्पादन किया जाता है, परन्तु स्वर्गउसका परममङ्गलमय उद्देश्य है। शवसंस्कार केलिए अग्निदाह ही श्रेष्ठ उपाय माना जाताथा, इसलिए अग्नि शव को पितृलोक तथा देवलोक तक पहुँचाता है। यज्ञ इस तरह अनेकानेक विशेषताएं मानव जीवन के सारे क्षेत्र में प्रस्तुत करता है। ब्राह्मण व्याख्यानों में नानाविध यज्ञों का प्रयोजन, विधि,सार्थकता= एवं महत्व का यही सार है।[2]

समस्त कर्मों में यज्ञ ही श्रेष्ठतम माना जाता था । ब्राह्मणों में यज्ञ को इतनी महिमा तथा आदर है कि विश्व का सबसे श्रेष्ठ देवता प्रजापति भी यज्ञ का ही रूप है"।[3] विष्णु का प्रतीक यही यज्ञ ही है।[4] आकाश में दीप्यमान भी आदित्य यज्ञ का रूप है।[5] इस तरह उक्त विवेचन से ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ पर देदीप्यमान ,उज्ज्वल प्रकाश का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत हुआ। इस प्रकार यज्ञ की महत्ता स्वयं में अनुपम एवं सुखदायी है।

- - - - - - - - - - - - -

1. देवान् भावयतानेन् ते देवा भवयन्तु व:।
   परस्परं भावयन्त: श्रेय परमावाप्स्यथ ।। गीता-3/11
2. "यज्ञो वै श्रेष्ठतम् कर्म" -शतपथब्राह्मण -1/7/3/5
3. "एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापति:।"-शतपथब्राह्मण-4/3/4/3
4. "यज्ञो वै विष्णु:" शांखायन ब्राह्मण
5. " स य: यज्ञोऽसो आदित्य:" -शतपथब्राह्मण -14/1/1/16

**********==========**********

चतुर्थोऽध्याय:

ताण्ड्य महाब्राह्मण में उपलब्ध "सांस्कृतिक तत्वों" का निरूपण

ताण्ड्य महाब्राह्मण में उपलब्ध सांस्कृतिकतत्वों का निरूपण

"वर्णव्यवस्था"

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था का विशेष महत्व है। वास्तव में वर्ण व्यवस्था भारतीयसमाज का मेरूदण्ड है। प्राचीन काल में राजनीति आर्थिक एवं धार्मिक रूपरेखा भी इसी आधार पर बनी थी। इसका उद्भव ऋग्वैदिक काल में ही हो चुका था। 'वर्ण शब्द मनुष्यों के एक वर्ग को द्योतित करता है। ऋग्वेद में यह शब्द 'रंग' या 'ज्योति' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके अलावा उसी ग्रन्थ में यह मनुष्यों के एक वर्ग को व्यक्त करने के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।[1]

अन्य जगहों पर देखने से प्रकट होता है कि "दासों" और आर्यों का त्वचा के रंग के आधार पर विभेद किया गया है।[2] परन्तु यह विभेददो रंगों तक ही सीमित है। "ताण्ड्य महाब्राह्मण" एवं "तैत्तिरीय ब्राह्मण" में महाव्रत के प्रसंग में शूद्र तथा आर्य के बीच एक नकली युद्ध का उल्लेख मिलता है। इसमें ब्राह्मण को दिव्य वर्ण का एवं शूद्र को असुर वर्ण का बताया गया है।"[3]

"ऋग्वेद" के बाद की संहिताओं तथा ब्राह्मण साहित्य में हमें आधार भूत अन्तर विदित होता है। उस समय तक चारों वर्णों को पूरी तरह मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। "ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरूषसूक्त में मनुष्यों के चार वर्णों- 'ब्राह्मण','क्षत्रिय','वैश्य','शूद्र' की स्पष्ट कल्पना कीगई है।[4] समस्त समाज को पुरूष का रूपक दिया गया है, और उसके विभिन्न अंगों का वर्णन किया गया है। चारों

---

1. पंचविंश ब्राह्मण - 5/5/14
2. गोपथ ब्राह्मण - 1/1/23
3. ताण्ड्यब्राह्मण - 5/5/14, तैत्तिरीय ब्राह्मण - 1/2/6/7
4. जैमिनीय ब्राह्मण - 2/405

वर्ण एक दूसरे से सम्बद्ध है। जीवित समाज का यही लक्षण है। संगठन एवं जागृति के भाव को व्यक्त करने के लिए ही पुरुष सूक्त में समाज के पुरुष का रूपक दिया गया है, और उसके विभिन्नअंगों का वर्णन किया गया है। उस समाज पुरुष का ब्राह्मण मुख था। क्षत्रिय भुजाएँ थीं, वैश्य जंघा था तथा शूद्र पैर था।

"ताण्ड्य ब्राह्मण" में प्रजापति से चारों वर्णो की सृष्टि बतलाई गयी है। प्रजापति के मुख से ब्राह्मण हृदय एवं बाहुओं से क्षत्रिय, मध्य भाग से वैश्य एवं पैरों से शूद्र का उल्लेख पाया जाता है।"[1]

वस्तुत: वर्णव्यवस्था जातिगत वर्ग तथा समाजिक संरचना से सम्बद्ध है। जिससे वर्ण संबंधी व्यवस्था और धर्म दोनों सम्मिलित है। वर्ण के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप स्थान मिलता है। समाज में व्यक्ति का प्रभाव और महत्व वर्ण के आधार पर ही तय होता है। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान स्थान है तथा प्रत्येक वर्ण का अपना खास कर्तव्य भी है। वर्णो के ये कर्तव्य समाज में वर्ण धर्म के नाम से जाने गये ।

वर्ण व्यवस्था में दो मुख्य तत्व हैं - एक तो ऊँच-नीच की भावना तथा दूसरे सभी वर्णो के लिए निर्धारित कर्म। इन्हीं दो तत्वों को लेकर वर्णव्यवस्था का स्वरूप बना। चारों वर्णो के अपने अपने कर्म वैज्ञानिक और सुविचरित आधार पर निर्धारित किये गये थे, जो समाज के व्यवस्थित विभाजन को व्यक्त करते हैं।

भारतीय वर्ण व्यवस्था सामाजिक वर्गों की महत्ता और उनके कर्मों की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है। इसका उद्देश्य है व्यक्ति का बहुमुखी विकास, जो उसका गुण के अनुरूप कर्म से माना गया है। अपने वर्ण के कर्म का परिपालन करने पर तथा पुनर्जन्मों के आधार पर मनुष्य की अभिवृद्धि होती है। सभी वर्णो के

- - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/1/6-7

मनुष्यों में समानता है, अन्तर तो केवल उनके गुण और कर्म का है। वर्णो में विभाजन के बावजूद सभी वर्णो का एक दूसरे से सम्बन्ध है। "ताण्ड्यब्राह्मण" में वर्णन आया है कि वर्ण शब्द मनुष्यों के एक वर्ग को व्यक्तकरने के लिए भी प्रयुक्त हुआ है"।[1]

"वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति तथा आर्य और अनार्य"

'वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के "वृञवरणे" अथवा "वरी" धातु से हुई है जिसका अर्थ है "चुनना" या वरण करना। "वर्ण और "वरण" शब्दों में समानता भी है। "वर्ण" से तात्पर्य "वृत्ति" से है, किसी व्यवसाय के चुनने से। वास्तव में "वर्ण" से तात्पर्य "वृत्ति" तथा उस सामाजिक वर्ग की ओर इंगित करता है, जिसका समाज में विशिष्ट कार्य तथा स्थान है। इन्हीं बातों के कारण समाज के अन्य वर्गो अथवा समूहों से सर्वथा अलग होता है।

इसका प्रयोग सर्वप्रथम तो "ऋग्वेद" में पाया जाता है, जो पूर्वयुग की समाजरचना के प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करता है, उसमें "वर्ण" का प्रयोग "रंग" अथवा "आलोक" के अर्थ में है।[2] तथा यत्र तत्र ऐसे वर्गो के लिए भी "वर्ण" का व्यवहार हुआ है, जिनके शरीर की त्वचा "श्याम" थी अथवा श्वेत थी।

तत्कालीन समाज में दो ही वर्ण थे एक "आर्य" और दूसरा "अनार्य"। ऋग्वेद् के अनेक स्थलों पर "आर्य" और दास की अनेमता और भिन्नता "वर्णके रूप में दर्शित की गयी है। उनके पारस्परिक संघर्षो की चर्चा की गयी है"।[3] इस प्रकार

---

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 5/5/14
2. ऋग्वेद - 1/73/7, 2/3/5
3. ऋग्वेद - 3/34/9" ससानात्यां उत् सूर्यं ससानेन्द्र समान पुरुभोजसं गाम्।
हिरण्यमुत भोगं समान हत्वी दस्यून प्रार्य वर्णमावत्।।"

"आर्य" और "दास" वर्ण के रूप में दो प्रतिपक्षी जनजाति समूह थे, जो एक दूसरे से कार्य, व्यवहार, आचरण संभाषण रंग आदि में भिन्न थे।

ताण्ड्य ब्राह्मण में महाव्रत के प्रसंग से शूद्र तथा आर्य के बीच एक नकली युद्ध का वर्णन मिलता है।[1] गोपथ ब्राह्मण में भी दासों और आर्यों को त्वचा के रंग के आधार पर विभेद किया गया है।[2] दास और आर्यों में जन्म गत, रक्तगत, शरीरगत और संस्कारगत प्रजातीय भेद था। दोनों के कर्म भी अलग-अलग थे । अत: स्पष्ट रूप से "आर्य" और "दास" नामक दो वर्ण समाज में हो गये, जिनका वैदिक युग के प्रारम्भिक काल तक पृथक् अस्तित्व बराबर बना रहा था।

आर्य विजेता थे, और समाज के प्रशासक थे, अत: अनार्यों का उनका दास होना और अपने परिवारों के साथ उनकी सेवा करना स्वाभाविक था। इससे हड़प्पा और आर्य संस्कृतियाँ सम्मिलित होने लगीं, आर्यों ने अपनी संस्कृत और रक्त शुद्धता को बनाये रखने के लिए सम्पूर्ण समाज को पुनर्गठन किया और चार वर्णों की व्यवस्था की- ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र । शूद्र के अन्तर्गत उन्होंने समस्त दास और अनार्य वर्ग को सम्मिलित किया, तथा प्रारम्भिक तीनों वर्णों में ही संयोजित किया।

आर्यों ने समाज के जिन विभिन्न समूहों अथवा वर्गों का निर्माण किया, उनमें उनके गुण के साथ-साथ उने प्रधान कर्म को भी महत्व दिया। इस प्रकार वर्ण

- - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 5/5/14

2. गोपथ ब्राह्मण - 1/1/23

व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णो अथवा समूहों को उनके प्रधान गुण और कर्म के आधार पर विभाजित किया जाता है तथा कर्मो को मुख्य रूप से व्यवस्थित करके सही दिशा प्रदान की गई, इस तरह क्रमश: इसका पालन-अनुपालन होता रहा।

वर्ण व्यवस्था का उद्भव संबंधी सिद्धान्त

'वर्ण व्यवस्था' का उद्भव कैसे और किन परिस्थितियों में हुआ, यह विचारणीय है। फिर भी इसका विकास धीरे-धीरे हुआ। इसे पूर्णविकसित होने में तो हजारों वर्ष लगे। सभी वर्णो और वर्गो के कर्मो और कर्तव्यों को निर्धारित करने में अपार बुद्धि और विवेक की सहायता ली गयी। सभी लोग अपने-अपने कर्मो को निर्बाध गति से स्वच्छन्दता और निष्ठापूर्वक सम्पन्न कर सकें, इसके लिए धर्म की सहायता की गई तथा सभी वर्णो के कर्तव्यों को धर्म के अन्तर्गत माना गया। इस तरह वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति कई प्रकार तथा रूपों में विकसित होकर क्रमश: हुई।

"ताण्ड्यब्राह्मण"[1] में प्रजापति से चारों वर्णो की सृष्टि बतलाई गयी है। प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, हृदय एवं बाहुओं से क्षत्रिय मध्य भाग से वैश्य एवं पैरों से शूद्र की सृष्टि का उल्लेख पाया जाता है"। इस तरह ब्राह्मणों में उनके देवता तथा व्यवसायों के संबंध में भी संकेत पाया जाता है। "शतपथ ब्राह्मण"[2] कहा गया है" ब्राह्मण ,क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1• ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/1/6-7

2• शतपथ ब्राह्मण - 1/1/4/12

ब्राह्मणयुगीन समाज में ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों तथा इनके कार्यों को पूरी व्यवस्था एवं प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है। वैदिक यज्ञ का सम्पादन तथा निर्वाहक होने के कारण ब्राह्मण का स्थान चारों वर्णों में अग्रतम था।

(क) दैवी अथवा परम्परागत सिद्धान्त

प्राचीन धर्मशास्त्रों में वर्णों को उत्पत्ति ईश्वर कृत अथवा दैवी मानी गयी है, तथा उनके विभाजन को आदरपूर्वक पवित्र कहा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्णों को उत्पत्ति ईश्वरकृत मानी जाती है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्ण -संबंधी उत्पत्ति के विवरण को स्वीकार किया गया है, इसके विवेचन के अनुसार वर्णों की उत्त्पत्ति विराट पुरुष से हुई थी, उसे मुख से ब्राह्मण बाहु से क्षत्रिय,उरू (जाँघ) से वैश्य तथा पद (पैर) से शूद्र उत्पन्न हुए।"[1] वस्तुत: यह विराट पुरुष अर्थात सृष्टिकर्ता हजारों सिर, हजार आँखों और हजार पैरों वाला था, यह भूत और भविष्य दोनों था, और इसी से सृष्टि को उत्पत्ति हुई थी।"[2]

जिस प्रकार शरीर में मुँह ,बाहु, जाँघ और पैर का महत्व,उसी प्रकार समाज रूपी शरीर के ब्राह्मण, राजन्य(क्षत्रिय),वैश्य और शूद्र अंग है। सभी अंगों का शरीर में प्रधान स्थान होता है, तथा किसी एक अंग के बिना समाज कीस्थिति भी गम्भीर हो जाती है। क्योंकि शरीर केपरिचालन में भी सभी अंगो का समान योग और महत्व होता है।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. ऋग्वेद ब्राह्मण - 10/90/12

2. वही - "सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात् ।
पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च भव्यम ।"

ब्राह्मणों की उत्पत्ति मुख से इसलिए मानी गयी है कि उनका समस्त कार्य मुँह से सम्बन्धित था, अर्थात शिक्षा और ज्ञान प्रदान करना। क्षत्रियों को बाहु से उत्पन्न माना गया, क्योंकि उनका सभी कार्य देश की सुरक्षा, प्रशासन इत्यादि बाहु से आबद्ध था। बहुशक्ति और शौर्य का भी प्रतीक माना जाता है। वैश्यों का जाँघ से उद्भव इसलिए माना गया है क्योंकि उनक प्रमुख कार्य समाज की आर्थिक व्यवस्था सुदृढ करना था। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य से वे समाज की जरूरतों की पूर्ति करते थे। जिस प्रकार शरीर के लिए जाँघ की जरूरत थी, उसी प्रकार समाज के लिए वैश्यों की जरूरत थी। शूद्रो की उप्पत्ति पैर से इसलिए कही गयी है कि अपनी सेवा द्वारा वे तीनों वर्णो और समाज को गति प्रदान करते थे। इसलिए यह माना जाता है कि चारों वर्णों के बिना समाज का कोई महत्व नहीं है।

वर्ण व्यवस्था को दैवी इसलिए भी कहा गया कि इससे सम्बद्ध वर्ण ईश्वर के भय से अपने -अपने वर्ण के अन्तर्गत रहें तथा उसे तोड़ने अथवा आघात पहुँचाने का कार्य न करें। इस तरह विराट पुरूष के नाम पर संचालित की गई यह वर्ण व्यवस्था पश्चावर्ती युग में और भी पुष्पित तथा पल्लवित हुई थी। "गीता"[1] में भी भगवान श्री कृष्ण जी का कथन है कि चारों वर्णो को सृष्टि मैंने गुण और कर्म के आधार पर की है, तथा मैं ही उनका कर्ता और विनाशक हूँ। मनु[2] ने भी यह उल्लेख किया है कि ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः मुख, बाहु और जंघा तथा चरण से निर्वर्त किया है।"

- - - - - - - - - - - - - - - -

1• गीता - 4/13 - "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धय कर्तारम् व्ययम् ॥"

2• मनुस्मृति -1/31 " लोकानां तु --- निरवर्तयत्।"

वर्ण व्यवस्था के उद्भव का वर्णन महाभारत[1] में भी क्या गया है, अन्तर केवल इतना है कि विराट् पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है, इसके अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण , बाहु से क्षत्रिय, उरू(जंघा)से वैश्य और तीनों वर्णों की सेवा हेतु शूद्र का निर्माण किया।

"गुण का सिद्धान्त"

वर्णव्यवस्था के मूल में गुणों को भी अभिव्यक्ति मानी गयी है। मनुष्य अपने गुण से महान बनता है, न कि अपने वंश अथवा परिवार से। इसके अन्तः एवं बाह्य गुण ही उसे श्रेष्ठपद की प्राप्ति करते हैं। ये गुण कई प्रकार के होते है-सत्व, रज और तम। सत्व गुण अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ , दोषरहित, ज्ञानप्रदाता और सांसारिकता से विमुख करने वाला होता है। इससे व्यक्ति को सुख और ज्ञान का आभास मिलता है। यह श्रेष्ठतम माना गया है। रजोगुण से प्रेरित होकर मनुष्य अनुरक्त होता हुआ अपने कर्मों को सम्पन्न करता है तथा संसार सागर का संहरण करता है। सत्व की अपेक्षा रजोगुण निम्न है। पुनः तमोगुण से अज्ञान उत्पन्न होता है। जब अज्ञान का प्रभाव होता है तब भ्रम, आलस्य,प्रमाद, निद्रा मोह आदि का उदय होता है। मनुष्य उससे ग्रस्त हो जाता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. महाभारत शान्तिपर्व - ब्राह्मणों मुखतः सृष्टो ब्राह्मणो राजसत्तम ।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट उरूभ्यां वैश्य एव च ।।
वर्णानां परिचर्यार्थं त्रयाणां भरतर्षभ ।
वर्णश्चतुर्थः संभूतं पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः ।।

मनु[1] ने भी तीन प्रकार के गुणों की चर्चा की है-सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण। इस तरह यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि सत्त्वगुण ज्ञान से समन्वित, रजोगुण रागद्वेष से समन्वित, तथा तमोगुण अज्ञान से युक्त था। सत्वगुण से युक्त ब्राह्मण रजोगुण से समन्वि क्षत्रिय, रज से वैश्य और तम गुण से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।

रंगों से संबंधित सिद्धान्त

वर्ण का एक अर्थ रंग भी होता है, वास्तव में इसका प्रयोग ऋग्वेद काल में आर्य और दास का वैपरीत्य दर्शित करने के लिए आया है। इन दोनों वर्गों "आर्य" और "दास" का वर्ण- अर्थ क्रमशः श्वेत (गौर) और कृष्ण (श्याम) रंग है। "महाभारत शान्तिपर्व[2] में वर्ग की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि इसका उद्भव रंग से हुआ था। इसके अनुसार मनुष्यों की त्वचा के रंग विभिन्न वर्ण के परिचायक थे। ब्रह्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की उत्पत्ति की जिनका रंग क्रमशः श्वेत, लोहित (लाल) पीत (पीला) और कालाथा।" वस्तुतः श्वेत रंग सत्व गुण का परिचायक, लालरंग रजोगुण का, पीले रंग का रजोगुण, और तमो गुण श तथा काले रंग का परिचायक तमोगुण था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न रंगों में विभाजित चारों वर्णों की उत्पत्ति गुणों से सम्बन्धित हो गयी तथा शास्त्रकारों ने इनके रंग को मूलभूत गुणों से संयुक्त कर दिया। इस तरह रंग से सम्बन्धित विधान का वर्णन उक्त ग्रंथों में पाया जाता है।

---

1. मनुस्मृति -12/24 — सत्वं रजस्तश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान्। यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः।।
2. महाभारत, शान्तिपर्व 188/5 — ब्राह्मणनां तुसितों क्षत्रियाणां तु लोहितः। वैश्यानां पीतको वर्ण शूद्रणां सितस्तथा ।।

कर्म तथा धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त

शास्त्रकारों द्वारा विभिन्न वर्णों के अलग-अलग कर्म निर्धारित किये गये थे, अर्थात कर्म के ही आधार पर वर्णों का वर्गीकरण किया गया था। वैदिक काल में लोग विद्या शिक्षा, तप, यज्ञ धार्मिकता आदि में रूचि रखते थे। वे ब्राह्मण वर्ग के अन्तर्गत गृहीत किये गये। ऐसे लोगों का मुख्य कार्य अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन और तप था। पुन: दूसरी ओर जो वर्ग शासन संचालन और राज्य व्यवस्था में योग देता था, तथा जिसका प्रधानकर्म देश की रक्षा, प्रशासन आदि था वहक्षत्रिय वर्ण से सम्बन्धित किया गया। पशुपालन , कृषि व्यापार जिसका प्रधान कर्म था, वह वैश्य माना गया। उक्त तीनों वर्णों की सेवा और परिचारक वृत्ति करने वाला वर्ग शूद्र वर्ग का कहा गया।

वस्तुत: कर्म का यह सिद्धान्त धार्मिक परिप्रेक्ष्य में और भीसबल होकर वर्णों के जीवन में सशक्त और जीवन्त हुआ। किये गये कर्म के आधार पर ही मनुष्य का जन्म माना गया। पुन: यह व्याख्या की गई कि मनुष्य जो वर्तमान जीवनजीता है, वहपिछले जन्म में किये गये कर्म का ही प्रतिफल है। "महाभारत"[1] में कहा गया है कि समाज मेंसर्वप्रथम केवल ब्राह्मण ही थे, बाद में अपने कर्तव्यों की विभिन्नता के कारण समाज में कई वर्ण हो गये। काम और भोगके प्रेमी, तीक्ष्ण क्रोधी स्व-धर्म त्यागी साहिक क्षत्रिय थे। अपने धर्म से गिरा हुआ, पशुपालन में लिप्त पीत-वर्ण वाले वैश्य थे तथा हिंसा प्रिय, अपवित्र भ्रष्ट कृष्ण वर्ण वाले तथा येन् केन् प्रकारेण जीविकोपार्जन करने वाले शूद्र थे।

---

1. "महाभारत शान्तिपर्व" नविशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत ।
   188/10 ब्राह्मणां पूर्वसृष्टं हि वर्णाभिवर्णता गतम् ।।

इस तरह जाति से सम्बन्धित इसी प्रकार की अनेक कथाएँ मिलती हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन जीवन में जाति का ही प्राधान्य था, किन्तु बुद्ध का स्वयं का विचार कर्म प्रधान था, वे कर्म को ही श्रेष्ठ मानते थे। ऐतरेय[1] ब्राह्मण में कहा गया है कि जो ब्राह्मण हुए वह हुताद हुए, जो क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हुए वह अहताद हुए।

जन्म से सम्बन्धित सिद्धान्त

भारतीय शास्त्रकारों और भाष्यकारों ने वर्णों की उत्पत्ति जन्म से भी मानी है। ब्राह्मण परिवार में जन्मा व्यक्ति अयोग्य और अज्ञानी होकर भी पूजनीय ब्राह्मण माना जाता था, तथा चारों वर्णों में जन्म के आधार पर श्रेष्ठ माना जाता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्ण का आधार जन्म माना गया न कि कर्म। एक बहुत से रोचक उदाहरण विश्वामित्र की ब्राह्मण बनने की इच्छा नामक प्रसंग का है। चूँकि वशिष्ठ अत्यन्त विद्वान, कर्मनिष्ठ और तेजस्वी ब्राह्मण थे। वे विश्वामित्र के आघातों को अपने अध्यात्म, तप, और तेज से समाप्त कर देते थे। अन्ततोगत्वा विश्वामित्र ब्राह्मणत्व पाने में समर्थ तो अवश्य हो गये, परन्तु प्रत्येक अवसर पर वे वशिष्ठ द्वारा पराजित हुए। वस्तुतः यह संघर्ष ब्राह्मण -क्षत्रिय दो वर्गों के प्रतिनिधियों का था। कुलमिलाकर निष्कर्ष यह है कि विश्वामित्र कर्म से ब्राह्मण होकर भी, जन्म से क्षत्रिय वर्ण का होने के कारण क्षत्रिय कहलाये। दूसरी ओर द्रोणाचार्य का कर्म क्षत्रिय वर्ण का था, लेकिन वे जन्म से ब्राह्मण थे, इसलिए ब्राह्मण ही माने गये। महाभारत के एक प्रसंग में द्रौपदी ने स्वयं कहा था

- - - - - - - - - - - - - -

1. ऐतरेय ब्राह्मण - 7/19/1

कि कर्ण "सूत" (निम्न जाति का) है, उसके साथ मैं परिणय नहीं करूँगी। यह भी सर्व विदित है कि परशुराम ने भी क्षत्रिय धर्म को अपनाया था, किन्तु वे क्षत्रिय नहीं कहे जा सके।

"भगवत्गीता"[1] में भगवान कृष्ण ने वर्णों की उत्पत्ति के विषय में यह कहा है- मैंने गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्ण की सृष्टि की है।" इस तरह हम देखते हैं कि समाज में वर्ण की स्वीकृति जन्म और कर्म दोनों से की गई है। जन्म लेने के कारण व्यक्ति स्वभाविक रूप से जन्मजात प्रवृत्तियों से युक्त होता है। विभिन्न वर्णों के कर्म इन्हीं प्रवृत्तियों की क्रियाओं से प्रभावित होते रहे हैं, तथा अधिकार और कर्तव्य का संयोजन भी होता रहा है। मानव के उत्थान के लिए ये वर्णगत कर्म अनिवार्य रहे हैं। वर्ण व्यवस्था के निर्धारण में व्यक्ति का जन्म जात गुण व्यावहारिकता प्रदान करता था तथा उसे कर्म के महत्व का भी बोध कराता था।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति सम्बन्धी वर्णन के अनन्तर अब हम वर्ण व्यवस्था के विभाजन का प्रत्येक पहलू पर, विशेषकर ब्राह्मणों में प्राप्त इस व्यवस्था का उल्लेख करेंगे, चूँकि शोधप्रबन्ध का विषय भी सांस्कृतिक अध्ययन है, अतः ताण्ड्य कालीन वर्णव्यवस्था पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा जो इस प्रकार है-

- - - - - - - - - - - - - - - -

1· गीता-4/13 "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धय कर्तारमव्ययम्।।

"चतुर्वर्ण"

ब्राह्मण-युगीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों तथा इनके कार्यों की पूरी व्यवस्था एवं प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है। वैदिक यज्ञ का सम्पादक तथा निर्वाहक होने के कारण ब्राह्मण का स्थान चारों वर्णों में अग्रतम था। ब्राह्मणों में वेदशास्त्र को पढ़ने को तथा "मनुष्यदेव" के महनीय अभिधान से मण्डित किया जाता था।[1]

ऋग्वैदिक समाज में वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था, किन्तु इसका स्वरूप उत्तर वैदिक युग में ही निखरा था। वस्तुतः चातुर्वर्ण का विकास इसी युग से प्रारम्भ माना जा सकता है। "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का उल्लेख अथर्ववेद में भी हुआ है।"[2] ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के समान इस युग में भी चारों वर्णों को ब्रह्मा के चारो अंगों से उत्पन्न माना गया है।"[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है कि 'अग्निहोत्र करने के लिए ब्राह्मण के लिए वसंत में, क्षत्रिय के लिए ग्रीष्म में, वैश्य के लिए शीत में और रथकार के लिए वर्षाकाल में अग्निहोत्र करना श्रेयस्कर माना गया है।[4]

---

1. शतपथब्राह्मण-2/2/2/6"ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्य देवाः। विद्वान्सो हि देवाः।"

"शतपथब्राह्मण-3/7/3/10

2. अथर्ववेद - 3/5/7

3. यजुर्वेद - 31/10/1

4. ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/1/6

ब्राह्मण

ब्राह्मणकाल में इसका महत्व और भी बढ़ गया था। ब्राह्मणों की स्थिति उच्च मानी जाने लगी थी। "ताण्डय ब्राह्मण" में प्रजापति के मुख से इसकी उत्पत्ति मानी गयी थी।" उसके विभिन्न कार्यों के वर्णन भी प्राप्त होते हैं। "समाज में उसकी सर्व श्रेष्ठस्थिति का पतालगता है वह दिव्य वर्ण का उल्लिखित किया गया है।[1] समाज मेंयदि उसे कष्ट मिलता था तो जल में टूटल नाव की तरह राजा का राज्य विनष्ट हो जाता था। ब्राह्मण युग में तथा ताण्ड्य काल में क्षत्रियों की तुलना में ब्राह्मण को निः सन्देह उत्कृष्ट घोषित किया गया है। वह अपने ज्ञान, धार्मिक कृत्यों और मंत्रों के कारण प्रबल था।

वह अपनी प्रार्थनाओं और यज्ञों द्वारा राजाओं के सुरक्षित होने की कामना करता था। ऐतरेय ब्राह्मण से एक जगह वर्णन आया है कि पुरोहित के बिना अर्पित की गई राजा की आहुतियाँ देवताओं को स्वीकार नहीं थी। उस युग में ब्राह्मण ही प्रायः पुरोहित होते थे। राजसूय यज्ञ जैसे समारोहों की सम्पन्नता बिना ब्राह्मण के स्तुति गान के संभव नहीं थी। ऐसा भी विदित होता है कि ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त सत्ता से ही राजा शासन करता था।

ब्राह्मणकाल में हम देखते हैं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों में पूर्ण सहयोग की भवना की कामना की गई है। दानस्वीकार करने और वंश की शुद्धता को बनाये रखने के लिए भी निर्देश दिया गया है। यह भी वर्णनमिलता है कि सबके द्वारा अस्वीकार की गई वस्तु को ब्राह्मण ग्रहण न करे। वास्तव में ब्राह्मण की पवित्रता और शुद्धता इसी में थी कि वह अपने आचरण और कर्म को मनोनिवेश पूर्वककरता रहे।

- -

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण - 1/2/6

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में ब्राह्मण को क्षत्रिय से आगे तथा वैश्य एवं क्षत्रिय को उसका अनुगामी बतलाया गया है। ब्राह्मणों में यह भी वर्णन मिलता है कि उसकी हत्या जघन्य अपराध मानी जाती थी। इसके लिए प्रायश्चित की बड़ी कड़ी व्यवस्था निर्धारित की गयी थी। "ब्राह्मण को क्षत्रिय से श्रेष्ठ अधिकार प्राप्त था।"[2] "क्षत्रिय एवं ब्राह्मण पूर्ण समृद्धि के लिए एक दूसरे को सहयोग देते थे।"[3] ब्राह्मणों को परेशान या सताने पर यह कहा गया है कि "जो कोई ब्राह्मणों को सताता है, उसका शीघ्र पतन हो जाता है।

ब्राह्मण साहित्य में तथा अन्य साहित्य में ब्राह्मणों के लिए नियम एवं इनके अधिकारों का भी उल्लेख प्राप्त होता है, ब्राह्मण इन नियमों का पालन करते थे। इन्हें विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। मृत्यु दण्ड से ये मुक्त थे अर्थात इन्हें मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था। याज्ञिक कार्य करना पारौहित्य करना आदि ब्राह्मणों के विशेषाधिकार थे। फिर भी यदि कोई ब्राह्मण स्वामी के साथ विश्वासघात करता था, तो वह प्रणादण्ड का भागीदार होता था। "शतपथ ब्राह्मण"[4] में ब्राह्मण को सभ्यता का प्रकारक माना गया है। वह अपने ज्ञान और आचरण से समाज के उत्थान में अद्वितीय योगदान देता था"। जो बच्चा ब्राह्मण परिवार में जन्म ले लेता था, वह भी श्रेष्ठ माना जाता था।

- - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 2/8/2

2. ऐतरेय ब्राह्मण - 7/5

3. ताण्ड्य ब्राह्मण - 19/17/4

4. शतपथ ब्राह्मण -1/1

ब्राह्मण को अध्यापन कार्य याज्ञिक कार्य सम्बद्ध कार्य माना गया है। इसका विकास ज्ञान और यज्ञ से ही सम्भव था। इसके लिए विद्यार्थी जोवन आवश्यक था। राजा अपने समग्रराज्य को दक्षिणा रूप में दे सकता है, परन्तु ब्राह्मण को सम्पत्ति को दक्षिणारूप में नहीं देसकता है। ब्राह्मण के लिए ब्रह्म-वर्चसो होना आदर्श माना गया है। अर्थातवेद के अध्यापन से तेजस्वी बनना और इसलिए ब्राह्मणों में वही सर्वश्रेष्ठ वीर्यवान् माना जाता है, जो वेद का ज्ञाता होता है। षडविंश ब्राह्मण[1] में कहा गया है कि इस युग में ब्राह्मणों का स्थान देवतुल्य था।"

पौरोहित्य शायद इनका वंशानुगत था, पुरोहितो का कार्य केवल ब्राह्मणों के लिए था, ऐसो बात नहीं थी, उस काल में अब्राह्मण भी पुरोहित हुआ करते थे। राजा को पुरोहित रखना अनिवार्य होता था। ब्राह्मण ग्रंथों में यह उल्लेख भी पाया जाता है कि बिना पुरोहित के राजा का अन्न देवता नहीं स्वीकार करते हैं।

पूर्ववैदिक युग से ही राजनीतिक क्षेत्र में ब्राह्मणों को प्रधान स्थान प्राप्त था। पुरोहित के रूप में वह राजा को विभिन्न प्रकार को सलाह और परामर्श देता था। उत्तरवैदिक काल आते आते पुरोहित उपस्थित जन समुदाय को सम्बोधित करता हुआ कहता था, "हे मनुष्यों यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है, ब्राह्मणों का राजा तो सोम है।"[2]

---

1. षड्विंश ब्राह्मण -1/1

2. शतपथ ब्राह्मण-"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राज" -11/5/7/1

महाकाव्य समय में भी पुरोहित का सम्मान और प्रतिष्ठा पहले की ही भाँति थी। ब्राह्मण राज्य के कतिपय कार्यों में अपना सहयोग प्रदान करने लगा था। वह राजा का प्रधान परामर्श दाता होता था। राजा को योग क्षेम पुरोहित के अधीन माना जाता था। इस पद पर सत् की रक्षा करने वाला, असत् का निवारक, विद्वान, धर्मात्मा, मंत्रविज्ञ ब्राह्मण व्यक्ति को ही आसीन किया जाता था।

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में इनकी जातिगत पवित्रता ही इनके वास्तविक ब्राह्मणत्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंका किये जाने से इन्हें मुक्त कर देती थी। इस ब्राह्मण में यह व्यवस्था भी पायी जाती है कि अपने दाता के साथ अगर कोई विश्वास घात करता है तो उसे मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता है।[2] पुन: अन्य ब्राह्मणों में भी हमें ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों का भी वर्णन देखने को मिलता है। "शतपथ ब्राह्मण"[3] में ब्राह्मणों को प्राप्त विशेषाधिकारों का वर्णन इस प्रकार व्यक्त किया गया है- {1} अर्चा {2} दान {3} अज्येयता {4} अवध्यता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में यह भी वर्णन है कि किसी भी ब्राह्मण व्यक्ति को किसी भी प्रकार का कर नहीं देना पड़ता था। ये इस काल में कर से मुक्त किये गये थे। शतपथ ब्राह्मण[4] में कहा गया है कि ब्राह्मणों से किसी भी प्रकार का कर नहीं लिया जाता था।

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य महाब्राह्मण -6/5/8
2. ताण्ड्य महाब्राह्मण- 2/10/6-8
3. शतपथ ब्राह्मण - 11/3/1/4
4. शतपथ ब्राह्मण - 13/6/2/18

इस प्रकार हम यह भी देखते है कि पूर्व वैदिक काल तथा उत्तर वैदिक काल, महाकाव्य कालीन तथा ब्राह्मण कालीन समय में इनकी सामाजिक स्थिति उन्नत थी। यह उसकी विद्वता एवं सर्वोच्चता के कारण था। ब्राह्मण अपनी विद्वता के बलपर समाज को शिक्षित करता था। ब्राह्मण याज्ञिक क्रियाओं के द्वारा व्यक्तियों को धार्मिक बनाता था। यह प्रतिष्ठा देखकर कतिपय लोगों को द्वेष भी होने लगा था, क्यों कि ब्राह्मण वशिष्ठ और क्षत्रिय विश्वामित्र की कथा इसी प्रसंग की है भी, जिसका पुन: विवेचन करना इष्ट नहीं है। वास्तव में ऋग्वैदिक काव्य से ही इनकी प्रतिष्ठा बन चुकी थी। जो ब्राह्मणों तक जमी रही, हाँ बौद्धकाल में कुछ कमी अवश्य हुई। मगर उसने अपनी बुद्धि और प्रतिभा से समाज में अग्रणी स्थान बना लिया था। मेरा तो विचार है, वह इसी के बल पर भविष्य में भी अपनी गरिमा एवं प्रतिष्ठा बरकरार रखेगा, हाँ परिवर्तन थोड़ा बहुत होताही रहता है, क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का नियम है, यह ध्रुव तत्व है।

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में यह उल्लेख आया है कि जिस ब्राह्मण का कुल गोत्र प्रवरादि ज्ञात होता है, उसे आर्षेय कहा जाता है।" ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अन्य स्थलों पर ब्राह्मण के विवाह के सम्बन्ध में भी चर्चा की गई है। ब्राह्मण को प्रत्येक वर्ण से एक-एक पत्नी के रखने का अधिकार था, इस प्रकार ब्राह्ण चार पत्नियाँ रख सकता था। यह व्यवस्था वैदिक काल में भी पायी जाती थी। हिन्दू सामाजिक जीवन में चार पत्नियाँ रखना ब्राह्मण की विशेष सामाजिक स्थिति थी, जो उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और गरिमा को व्यक्त करती है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 20/15/9-10

"अलबोरुनी" ने कहा है कि पत्नियों की संख्या वर्ण पर आधारित थी, जिसके अनुसार ब्राह्मण चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो और शूद्र एक पत्नी रख सकता था। इनकी प्रतिष्ठा का मूलाधार इनकी वैदिक एवं धार्मिक श्रेष्ठता थी। ब्राह्मणों में कहा गया है"ब्राह्मण का बल उसके मुख में, भाषण में, वाक् शक्ति में ही होता है क्यों कि उसकी सृष्टि मुख से हुई है।"[1] आगे हम इन्हीं ग्रन्थों में ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के सम्बन्धों की भी एक झलक पाते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा भी गया है, ऐसे अनुवाचन ब्राह्मण के वंश में क्षत्रिय के रहने पर ही राष्ट्र का मंगल होता है, और राष्ट्र में वीर पैदा होते हैं।[2]

ब्राह्मणों पर अगर किसी प्रकार का आक्षेप अगर लगता था तब उसके विधान की व्यवस्था भी ब्राह्मणों ग्रंथों में की गयी मिलती है, इसके लिए बहुत ही कठोरपरीक्षा दे जाती थी, और इसके माध्यम से वह अपने को सत्यनिष्ठ, एवं निष्कलंकसिद्ध करता था।"ताण्ड्य ब्राह्मण"[3] में उल्लेख आया है कि 'वत्स' ने 'अग्नि परीक्षा' द्वारा इसी प्रकार के आक्षेप से अपने को मुक्त किया था।"

इस काल में यह भी उल्लेख देखने को मिलता है कि ब्राह्मण को सबके प्रति दयालुता[4], सज्जनता[5] का व्यवहार करना चाहिए, यज्ञ[6] तथा दान[7] भी करना चाहिए। पुन: यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण को प्रतिष्ठा तो विद्वता में ही है।[8]

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1· ताण्ड्य महाब्राह्मण-6/1/6, "तस्माद ब्राह्मणो मुखेन् वीर्यं करोति। मुखतो हि सृष्ट:।

2· ऐतरेय महाब्राह्मण-8/9, "तद् यत्र ब्राह्मण: क्षत्रं वशमेति तद्राष्टं समृद्धं तद्वीर-वदाहास्मिन् वीरो जायते।"

3· ताण्ड्य महाब्राह्मण-14/6/6

4· शतपथ ब्राह्मण -2/3/2/12

5· शतपथ ब्राह्मण- 2/3/4/6 ; 6· ऐतरेय ब्राह्मण - 7/19

7· शतपथ ब्राह्मण- 13/1/5/6 ; 8· शतपथ ब्राह्मण- 11/6/2-5

ब्राह्मण ग्रंथों में आर्थिक स्थिति का भी वर्णन देखने को मिलता है, इस दृष्टि से भी ब्राह्मणों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे, दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही प्राप्त था, इसके फलस्वरूप वे अधिक से अधिक दान, प्राप्त करने का प्रयास करते थे। इन्हें दान प्रदान करना गौरव की बात मानी जाती थी। अनेक ऐसे राजा और धनिकवर्ग के लोग हुए, जिन्होंने ब्राह्मणों को देवता तुल्य मानकर प्रभूत दान दिया था। "वर्णों" में वही दान प्राप्त करने वाला सुपात्र था, जिसने अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान के बल पर यह विशेष स्थिति प्राप्त की थी।"[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में यह भी विवरण पाया जाता है कि ब्राह्मण के धन को कोई भी ग्रहण नहीं कर सकता था। यहाँ तक कि उसका धन-धान्य राजा के लिए भी अग्राह्य था। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं, कि कभी-कभी परिस्थितियों के कारण व्यक्ति स्वधर्म का पालन न कर सकने के कारण अपना जीवनयापन नहीं कर सकता था, ऐसे संकट और विपत्ति के समय में उसके लिए वर्णेतर कर्म की व्यवस्था की गई थी। ब्राह्मणों के लिए भी इस प्रकार की व्यवस्था थी, अगर ब्राह्मण अध्यापन करने, यज्ञ को सम्पन्न कराने और दान प्राप्त करने से अपना और अपने कुटुम्ब का पालन कर सकने में असमर्थ होता था, तो वह क्षत्रिय और वैश्य के कर्म को भी अपना सकता था।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य महाब्राह्मण - 13/7/12

"महाभारत" से विदित भी होता है कि तत्कालीन समाज में ऐसे अनेक ब्राह्मण थे, जो शस्त्रोपजीवी थे, तथा अपने क्षत्रिय कर्म से विख्यात थे। इनमें कृपा-चार्य, द्रोणाचार्य अश्वत्थामा ऐसे ही वीर और पराक्रमी ब्राह्मण थे जो युद्ध कला में विख्यात थे। इसके साथ-साथ वे अन्य वर्णों के कार्यों एवं कर्मों को अपनी जीविका को सुचारूरूप से चलाने के लिए अपना सकते थे। वास्तव में यही आपत्ति कालिक कर्म थे।

"क्षत्रिय"

"क्षत्रिय" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक स्थलों में मिलता है। इसके लिए कहीं-कहीं "क्षत्र" शब्द का प्रयोग उस काल में प्राय: "शूरता" और "वीरता" के अर्थ में लिया जाता था।"[1] आर्यों के तत्कालीन समाज में क्षत्रिय समूह के रूप में ऐसे शूरवीरों का एवं वर्ग बन गया था जो यहाँ के मूल निवासियों से युद्ध करके उनके भू क्षेत्रों पर आधिपत्य स्थापित करता था। ऐसे ही शौर्यवीर लोग देवताओं और राजाओं की श्रेणी में सम्मिलित किये गये थे। "राजन्य" शब्द का प्रयोग भी क्षत्रिय वर्ग के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में "राजन्य " शब्द का वर्णन आया हुआ है।"[2]

ताण्ड्य महाब्राह्मण[3] में कहा गया है कि "क्षत्रिय" की उत्पत्ति प्रजापति के हृदय और बाहुओं से हुई थी। चूँकि यह वर्ण भुजाओं से उत्पन्न हुआ है, इसलिए क्षत्रिय को अपने भुजा के बल पर गर्व होता है। क्षत्रिय वर्ग वास्तव में राजकुल से

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. ऋग्वेद - 8/35/16-18,
2. ऋग्वेद - 10/90/2
3. ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/1/8

सम्बद्ध था।"[1] "राजन्य" के रूप में वह राजपरिवार का भार कराता है। साथ ही प्रशासन और सैनिक योग्यता का भी परिचय देता है। इस वर्ग के सदस्य युद्ध कौशल और प्रशासनिक योग्यता में भी निपुण थे। उस युग के शासक मात्र राजा ही नहीं थे, बल्कि वे उच्च कोटि के शिक्षक, दार्शनिक, विद्वानों के संरक्षक और बौद्धिक गवेषणाओं में सुविज्ञ थे।

ब्राह्मणग्रंथों के अध्ययन से यह पता चलता है, कि ब्राह्मणों के दार्शनिक पक्ष और तार्किक बुद्धि को स्थिति समझते हुए समानता की ओर अग्रसर होकर दार्शनिक अन्वेषण किया। इसमें यह भी उल्लेख मिलता है कि पौरोहित्य याज्ञिक क्रियाएँ, दार्शनिक खोजों आदि में पारंगत होकर कुछ क्षत्रिय शासकों ने ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती दी थी। "क्षत्रिय विदेह शासक जनक से याज्ञवल्क्य ने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया था। उनके निर्देशन में अनेक विद्वानों की गोष्ठियाँ आयोजित की जाती थी, ब जिनमें दर्शन शास्त्र पर भी विचार विनिमय किया जाता था।[2]

"शतपथ ब्राह्मण"[3] में उल्लेख मिलता है कि "धर्म दर्शन के वाद-विवाद में राजा जनक ने ब्राह्मणों को परास्त किया था, इसके बदले ब्राह्मणों द्वारा "राजबन्धु" की उपाधि प्राप्त की थी। उनके ब्रह्मज्ञान के कारण उन्हें ब्राह्मण कहा गया था। क्षत्रियों को ब्राह्मण काल में भी कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे। जिनमें हम उन्हें निम्न प्रकार से संक्षेप में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं-

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. अथर्ववेद- 7/103 - " को अस्या वो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियोइच्छ को यज्ञ कामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुतदोर्घमायु

2. शतपथ ब्राह्मण -11/6/2/5

3. शतपथ ब्राह्मण- 11/6/2/5, वैदिक इंडेक्स-प्रथम भाग, पृष्ठ 272।

"क्षत्रिय" युद्ध में जीती गई सारी वस्तुएँ ले लेते थे, जो क्षत्रियों के विशेषाधिकार को स्पष्ट करता है। मनु के अनुसार -"रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धनधान्य (सब तरह के अन्न), पशु (गौ, भैंस) इत्यादि, स्त्रियों (दासी इत्यादि), सब तरह के द्रव्य (गुड़ नमक आदि) और कुप्य (सोना चाँदी के अलावा ताँबा, पीतल आदि धातुओं को जो योद्धा जीतकर लाता था, उसी का होता था।"[1]

वर्ण के अनुसार क्षत्रियों के लिए दण्ड की व्यवस्था भी क्रमानुसार की गई थी, ब्राह्मणों को सबसे कम दण्ड मिलता था और शूद्र को सबसे अधिक। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि ब्राह्मण से कटुवचन कहने वाला क्षत्रिय सौ पण, वैश्य डेढ़ सौ पण या दो सौ पण और शूद्र बध से दण्डनीय होते थे।"[2]

समाज में कुछ ऐसे कार्य थे, जो क्षत्रियों के लिए वर्जित थे। वेद पढ़ाने, यज्ञ करने और दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मणों का था, यद्यपि वैदिक युग के अनेक क्षत्रिय शासकों ने पढ़ाने का भी कार्य किया था। यह विवरण भी पाया जाता है कि क्षत्रिय वेद पढ़ सकते थे, परन्तु पढ़ा नहीं सकते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि अध्यापन का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही प्राप्त था।

संकट काल में क्षत्रियों के लिए भी यह व्यवस्था की गई थी कि वे संकट काल में अपने से नीचे वर्ण के कर्म अपना सकते थे। क्योंकि कभी-कभी ऐसी स्थिति होती थी कि व्यक्ति अपने वर्ग के कर्म करते हुए भी अपने परिवार का पोषण कर सकने में असमर्थ होता था। उस समय वह अपनी आजीविका चलाने के

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. मनुस्मृति -7/96; "रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्।।"

2. मनुस्मृति-8/267 "शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ।।"

लिए दूसरे वर्ण के कार्य करता था। कहीं कहीं पर कहा गया है, इस निमित्त क्षत्रिय वैश्य कर्म अपना सकताथा। इसी प्रकार का वर्णन धर्म सूत्रों तथा धर्म ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

"मैक्डानेल" और "कीथ" महोदय के विचार से यह उल्लेख इस बात का प्रमाण है, कि क्षत्रिय चारणों के अलग वर्ग का भी, अस्तित्व था। जिनकी कृतियों से महाकाव्य स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ।"[1] "आदित्य"[2] "सोम"[3] "प्रजापति"[4] "मित्र"[5] "वरूण"[6] एवं "इन्द्र"[7] देवताओं की भी क्षत्रियों से तुलना की गई है। अतः ये देवता देवताओ में क्षत्रिय माने जाते थे। प्राप्त संकेतो से विदित होता है कि इन्द्र, सोम, वरूण आदित्य पराक्रमी वीर एवं महत्वशाली देवता थे।

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. वैदिक इण्डेक्स - 1/230
2. ऐतरेय ब्राह्मण -6/20
3. कौषीतकि ब्राह्मण -9/5
4. शतपथ ब्राह्मण - 8/2/3/11
5. तैत्तिरीय ब्राह्मण -2/5/7/4
6. शतपथ ब्राह्मण - 2/5/2/6

   गोपथ ब्राह्मण - 2/6/7
7. कौषतकि ब्राह्मण- 12/8,

   शतपथ ब्राह्मण - 2/5/2/27

" वैश्य "

वैश्य का स्थान समाज में निम्न था। इसे ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद तीसरा स्थान प्राप्त था। इसे "अनस्य बलिकृत" भी कहा गया है। वस्तुत: यह कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वैश्य वर्ण का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के बाद ही था। वास्तव में इस वर्ग का प्रमुख कार्य था - पशुपालन था तथा अन्नोत्पादन। इनकी सबसे बड़ी इच्छा तो गाँव का मुखिया बनने की होती थी। यज्ञीय क्रियाओं में भी वैश्य का सहयोग आवश्यक माना जाता था, दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कहा गया है कि "वैश्य स्त्री" के पुत्र का राजा के रूप में कभी भी अभिषेक नहीं होता है।

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्गों के घनिष्ठ सम्बन्ध की कामना की गयी थी। इसके साथ ही साथ यह आशा भी व्यक्त की गई थी कि जो जीव रमणीय अर्थात उचित आचरण करते थे, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैसी उत्तम योनि में जन्म लेते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इन तीन वर्गों की पारस्परिक घनिष्ठता की कामना भी हुई थी। "वैश्य" के लिए "अर्य शब्द का प्रयोग भी मिलता है। व्यापरिक व्यवस्था और कृषि का समस्त भार उसके ऊपर निर्भर करता था। राज्य और देश की आर्थिक स्थिति उसी के प्रयास से सुदृढ़ होती थी। अर्थ संबधी जितनी भी नीतियाँ होती थी, उनका संचालन वैश्यवर्ग ही करता था। अध्ययन, यजन और दान उसका परम पुनीत कर्तव्य था।

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में प्रजापति से वैश्य वर्ण की उत्पत्ति बतलाई गयी है। "ब्राह्मण साहित्य में देवताओं में भी चातुर्वर्ण्य की कल्पना करते हुए वैश्य देव और मरूतों को वैश्य माना गया है।[2] ब्राह्मण ग्रन्थों में इनके क्रिया कलापों पर

- - - - - - - - - - - - - - -

1. ताड्यमहाब्राह्मण - 6/1/10
2. शतपथ ब्राह्मण- 14/4/1/9 , तैत्तरीय ब्राह्मण-2/7/2/2

विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इनकी चारित्रिक विशेषताओं का भी वर्णन इन ग्रन्थों में किया गया है। इनकी समृद्धि किन-किन वस्तुओं पर निर्भर करती थी, इस विषय में भी विस्तृत वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आया है, वैसे तो इसका वर्णन पूर्व से लेकर उत्तर वैदिक तथा महाकाव्यों इत्यादि में प्रचुर मात्रा में आया है। इसी विषय में ताण्ड्य[1] ब्राह्मण में कहा गया है "वैश्य वर्ण की समृद्धि पशुओं पर निर्भर करती थी।" इससे यह तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है, कि इनका पशुपालन करना प्रमुख व्यवसाय तथा धर्म था।

धार्मिक क्षेत्र में भी वैश्यों को अधिकार प्राप्त था, अन्य कालों की भाँति ब्राह्मण ग्रंथों में इस विषय पर पर्याप्त विवेचन देखने को मिलता है। इनकोउपस्थित धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करने के समय आवश्यक मानी जाती थी, इससे इनकी धार्मिक भावना का सम्यक आभास हो जाता है। "ताण्डयब्राह्मण"[2] में कहा गया है कि धार्मिक क्षेत्र में भी वैश्यों को अधिकार प्राप्त था। वैश्य प्राय: सभी यज्ञों को कर सकता था, वह वर्षाऋतु में अग्न्याधान करता था।"

ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट संकेत मिलता है कि अर्थ व्यवस्था का संचालन यही वर्ग करता था, इनके द्वारा ही राज्य को विकास के मार्ग पर लाया जाता था, बिना इनके सहयोग के ये क्रियाएँ असम्भव थीं। सकल राष्ट्र की समृद्धि चूँकि अर्थव्यस्था पर ही निर्भर करती है, इसलिए इस क्षेत्र में इनका सहयोग अतुलनीय

- - - - - - - - - - - - -

1• ताण्ड्य ब्राह्मण - 18/4/6

2• ताण्ड्य महाब्राह्मण - 6/1/10, शतपथ ब्राह्मण -2/1/3/5

और हरदृष्टि से अपेक्षित भी था। ऐतरेय[1] ब्राह्मण में कहा गया है कि वैश्य के अन्न और धनोपार्जन पर राज्य के सब वर्णों का काम चलता था, इसलिए, वैश्य ही राष्ट्र है" ऐसा कहा गया है। ग्रामणी के पद को वैश्य वर्ण ही अलंकृत करता है, ऐसा वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है।"[2]

पुन: हम दूसरी तरफ यह भी देखते है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी थीं, जिन्हें वैश्यों के लिए बेचना वर्जित था। मद्य, माँस, लोहा और चमड़ा जैसी वस्तुएँ बेचना उनके लिए निषिद्ध किया गया है। यह भी विवेचन मिलता है कि जो व्यापारी मिलावटी वस्तु बेचते थे तथा साधारणवस्तु को अति-उत्तम कहकर बेचने का,प्रयास करते थे, वे दण्डित भी किये जाते थे।

"शूद्र"

शूद्र का समाज में ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य के बाद चौथा स्थान था।शूद्र का प्रधान कार्य परिचारिका वृत्ति थी। परिचारिक भृत्य के रूप में यह कार्य करता था। यह उस समय की रीति बन गयी थी कि इन्हें भृत्य के रूप में निकाल दिया जाय या रख लिया जाय। यहाँ तक कहा गया है कि शूद्र चाहे कितना ही वैभव से पूर्ण तथा समृद्धसम्पन्न हो , मगर वह दूसरे का भृत्य होने के अलावा और

कुछ नहीं कर सकता।"अन्य तीन वर्णों" की भाँति,ब्राह्मण ग्रंथों में भी यह संकेत मिलता है कि शूद्र की उत्पत्ति प्रजापति के चरणों से हुई।[3]

- - - - - - - - - - - - - -

1. ऐतरेय ब्राह्मण -6/1/10, शतपथ ब्राह्मण -2/1/3/5
2. ऐतरेय ब्राह्मण - 8/27 ;2. शतपथ ब्राह्मण - 5/3/1/6
3. ताण्ड्य महाब्राह्मण- 6/1/11

शूद्र का प्रधान कर्म अपने से ऊँचे वर्ण वालों को सेवा करना और परिवारिक वृत्ति करना था। यज्ञ के लिए वह पूर्णतया अयोग्य होता था। यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ स्थल पर उसकी उपस्थित पूर्णतया वर्जित थी। "उसे 'असत्य' भी माना गया है। शूद्र स्त्री और आर्य पुरूष के संबंध का भी वर्णन किया गया मिलता है। ऋग्वेद में केवल एक बार ही इसका उल्लेख आया है और वह भी पुरूष सूक्त में। "इसे विराटपुरूष के पैरों से उत्पन्न मानकर इसके समाज में प्राप्त स्थान का भी विवेचन किया गया है, निश्चय ही इनका स्तर काफी निम्न था।" "ऋग्वैदिककाल" में चारों वर्णों के मध्य मित्रता थी, बंधुता थी। इस समय जन्म का महत्व समाज में नहीं था। वर्गीकरण के ऊँच-नीच की भावना का भी कोई प्रभाव नहीं था। व्यवसायों को अ अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

"जैमिनीय ब्राह्मण"[1] में कहा गया है कि शूद्र की उत्पत्ति प्रजापति के चरणों से हुई है, और इसका कोई देवता नहीं होता था। ब्राह्मण ग्रंथों में एक जगह कहा गया है कि शूद्रशब्द परिवार के दासों के लिए ही नहीं प्रयुक्त हुआ है, वरन् आर्य और अनार्यो के भेद को भी प्रकट करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

यद्यपि विख्यात और विद्वान ऐसे ऋषियों के नाम भी मिलते हैं, जो शूद्र से उत्पन्न हुए थे उदाहरणतया -पराशर ऋषि श्वापक नारी से , व्यास ऋषि धीवर कन्या से , वशिष्ठ ऋषि गणिका से कपि जाबाल, चाँडाल नारी से ऋषि मदनपाल नायिका स्त्री से जन्में थे। इसके अलावा ये भी उदाहरण मिलते हैं, कि शूद्र ऋषियों द्वारा ज्ञान भी प्राप्त करते थे।

- - - - - - - - - - - - - - -

1· जैमिनीय — ब्राह्मण - 1/68-69

2· ताण्ड्य महाब्राह्मण - 5/5/14

शूद्रों की त्वचा रंग[1] एवं रहन सहन[2] के साथ आर्यों को तुलना ब्राह्मण ग्रन्थ साहित्य से को गयी है। शूद्र शब्द के लिए 'असुर' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। महाभारत में कहा गया है कि उसका प्रमुख धर्म अन्य वर्णों की सेवा करना था, परिचर्या वृत्ति ही उसको प्रधान वृत्ति थी।[3] "तीनो वर्णों के सेवकके रूप में उसे समस्त वर्णों का दास माना गया था।"[4]

कोई भी शूद्र विद्याध्ययन के निमित्त आचार्य के आश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता था, अनाधिकार तप करने वाला शूद्र उपेक्षनोय और निन्दनीय होता था। शूद्र वर्ण के 'शाम्बूक' ने अनाधिकारपूर्वक तप करने को चेष्टा की थी, जिसपर राम ने वर्ण धर्म को सुरक्षा के लिए उसका वध कर डाला था। शूद्र अध्ययन-अध्यापन भी नहीं कर सकता था। विदुर ने यह स्वयं स्वीकार किया था कि वे शूद्र होने के कारण शिक्षा प्रदान करने के अधिकारो नहों है।

उक्त विवेचन के बाद हम यह भी देखते है कि पुराणों में शूद्रों के प्रति उदार भावना व्यक्त की गई है, उन्हें दान करने को भो अनुमति प्रदान की गयी है तथा इन्द्रिय निग्रह के साथ मोक्ष को प्राप्ति का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु इस उदार भावना के विपरोत वास्तविक जोवन में उसका स्थान प्रशंसनोय नहीं था। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में उन्हें एक ओर सूत्रों के माध्यम से अवरूद्ध कर दिया गया था। दूसरी ओर थोड़ी बहुत उदारता दिखलाते हुए उनसे उच्च कार्य करने को आशा व्यक्त को गयी थी।

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण -5/5/14-16, शतपथ ब्राह्मण-6/4/4/9

2. ऐतरेय ब्राह्मण -7/17 ; तैत्तिरीय ब्राह्मण - 1/2/6/7

3. महाभारत 5/132/30 -"शूद्रं परिचरेच्चं तान्"।

4. महाभारत, शान्तिपर्व -60/28 "प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रम कल्पयत्। तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते।"

पुनः हम यह भी देखते हैं कि धीरे-धीरे समाज में शूद्रों के दो वर्गों का विकास होने लगा। एक तो वह वर्ग था जो ब्राह्मणों के निर्देशानुसार विशुद्ध आचरण और धार्मिक क्रिया सम्पादित करता था और दूसरा वह वर्ग था जो इसविशुद्ध आचरण और सात्विक चरित्र से दूर असभ्य असंस्कार युक्त तथा हीन जीवन व्यतीत करता था।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन करने पर विदित होता है कि बहुपशुमान और समृद्ध होने पर भी शूद्र को यज्ञ करने का अधिकार नहीं प्राप्त होता था क्योंकि कोई देवता उसके लिए उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए शूद्र दास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।"[1] इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस काल में शूद्र को यज्ञीय क्रिया के सम्पादन के लिए पूर्णतया अयोग्य माना जाता था। उसको इससे पूर्णतया वंचित कर दिया गया था। जाति के बंधन भी उस काल मे कठोर थे, ऐसा विवरण प्राप्त होता है। ऐतरेय[2] ब्राह्मण में कहा गया है कि जातिसम्बन्धी विवेचन में शूद्रों को दूसरे का सेवक, इच्छानुसार वहिष्कृत एवं वध किये जाने योग्य बतलाया गया है। ताण्ड्य[3] ब्राह्मण में इसे निश्चय ही यज्ञ के अयोग्य सिद्ध किया गया है।

शतपथ[4] ब्राह्मण में एक जगह उल्लेख आया है कि उच्च जातियाँ ही सब कुछ हैं, 'अग्नि होत्र' के लिए शूद्र दूध नहीं दुहता था क्योंकि उसकी उत्पत्ति असत् से हुई।" तैत्तिरीय ब्राह्मण में शूद्र को उत्पत्ति असत् से मानी जाती है।[5] "ब्राह्मण

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण -6/1/11
2. ऐतरेय ब्राह्मण -7/29
3. ताण्ड्य ब्राह्मण -6/1/11
4. शतपथ ब्राह्मण - 2/1/4/2
5. तैत्तिरीय ब्राह्मण -3/2/3/9

ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शूद्र पूर्णतया द्विजों से निम्न माने जाते थे। उनके लिए ब्राह्मण को सेवा बहुत ही महत्व को बात थी। अगर ब्राह्मण की सेवा करने से उनको आजीविका नहीं चल पाती थी तो धनिक वैश्य को सेवा करते थे।

इस तरह स्पष्ट है कि यज्ञ को छोड़कर अन्य सभी अवसरों पर शूद्रों को सम्मान पूर्ण स्थान प्राप्त था। वैधानिक दृष्टि से वंचित होते हुए भी क्रमशः स्वतन्त्र व्यक्तियों के रूप में अपना स्थान बना सकने में समर्थ हुए थे। ताण्ड्य ब्राह्मण मे उल्लेख है कि उस युग में ये शूद्र बहुपशुमान और समृद्धशाली बन गये थे।[1] बस, विशेष कर याज्ञिक क्रियाओं का इनके लिए विशिष्ट रूप से निषेध की बात कही गयी थी।

प्राचीन काल में भारत ही नहीं संपूर्ण यूरोप इत्यादि देशों में भी दास प्रथा का प्रचलन था, सुमेरियन तथा बेबीलोनियन सभ्यताओं में भी दास प्रथा का प्रचलन पाया जाता था। विवेचन . . इसका पहले ही किया जा चुका है, इसलिए उसकी पुनः आवृत्ति अनुचित है। इस तरह उक्त व्याख्या से ताण्ड्य कालीन वर्ण व्यवस्थाका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

"ताण्ड्य महाब्राह्मण और आश्रमव्यवस्था"

ब्राह्मण साहित्य में एक आदर्श जीवन का चित्रण मिलता है। व्यक्ति का जीवन तीन भागों में बँटा था। प्रत्येक भाग को आश्रम कहते हैं। "ब्राह्मण साहित्य में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका सबसे पहले प्रयोग उपनिषद् साहित्य में पाया जाता है।"[2] लेकिन जिन उपनिषदों में इसका प्रयोग पाया जाता है उसको

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण – 6/1/11

2. श्वेताश्वर . –6/21

बौद्ध काल के पूर्व का नहीं माना जा सकता है।[1] वास्तव में "आश्रम" शब्द के पीछे आदर्श जीवन की भावना निहित थी। उसका उद्देश्य व्यक्ति को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों का पालन करने की भावना थी। ब्राह्मणकाल में गृहस्थ, आश्रम का विशेष महत्व पाया जाता है। अपत्नीक यज्ञ का अधिकारी नहीं माना जाता था।[2] चूँकि यह युग कर्मकाण्डीय भी था, इसलिए कर्मकाण्ड प्रधान युग में उसका मूलउद्देश्य यज्ञीय अनुष्ठानों के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करना था।

साधरणतया जीवन को चार भागों में बाँटा जाता है, इसके हर भाग को आश्रम कहते हैं। वे क्रमशः इस प्रकर हैं- (1) ब्रह्मचर्य विद्यार्थी जीवन का काल (2) गृहस्थ - धर्म, अर्थ, और काम की प्राप्ति का काल। (3) वानप्रस्थ - वस्तुतः सांसारिक जीवन से विरक्ति का काल है। (4) सन्यास- आश्रम।

वस्तुतः देखा जाये तो ब्राह्मण साहित्य में चारों आश्रम की स्थिति के विषय में संकेत मिलते हैं। परन्तु कर्मकाण्ड प्रधानसाहित्य होने के कारण ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम की बहुत हीप्रतिष्ठा की गई है।

ब्राह्मण साहित्य में "ब्रह्मचर्य" शब्द का प्रयोग एवं ब्रह्मचारी धर्मका विस्तृतविवेचन का उल्लेख पाया जाता है।[3] ब्राह्मणकाल में यह आश्रम पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। अग्नि कोगृहपति[4] गृह में जिन शब्दों से पुकारते थे, गृहस्थ के लिए भी गृहपति एवं गृहमेधिन् शब्दों का प्रयोग पाया जाता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. वैदिक इण्डेक्स -1/77
2. शतपथ ब्राह्मण -5/1/6,10
3. पंचविंश ब्राह्मण -23/1/5
4. पंचविंश ब्राह्मण -23/1/8

आश्रम चतुष्टय का निष्ठापूर्वक सम्पादन व्यक्ति के उत्कर्ष का मूलाधार था। आश्रम के मार्ग पर जीवन सरल एवं सहज ढंग से गतिमान होता था। पुरूषार्थों का पूर्णरूप से क्रियान्वयन भी आश्रमों के माध्यम से ही सम्पन्न किया जाता था। प्राचीन हिन्दू समाज में आश्रमव्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत सुगठित और सुव्यवस्थित करने के लिए भारतीय समाज में आश्रम-व्यवस्था की गयी थी। मानव जीवन को समग्रता पूर्वक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उसे आश्रमों के अन्तर्गत विभाजित किया गया था।

इस दृष्टि से आश्रम -व्यवस्था का दर्शन प्राचीन व्यवस्थाकरों के अद्वितीय ज्ञान एवं बुद्धि का प्रतीक है, जिसमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक जीवन को ज्यादा महत्व देते थे। मानव जीवन को इस व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास नामक चार आश्रमों में विभाजित किया गया था। जिसका अन्तिम लक्ष्य था, मोक्ष कीप्राप्ति। दार्शनिक प्रेरणा से मनुष्य का जीवन एक आश्रम से होता हुआ क्रमानुसार अन्तिम आश्रम तक पहुँचता था तथा अपनी कर्मनिष्ठता और सात्विकता से परम लक्ष्य प्राप्त करता था। यह गति ही परम ब्रह्म की प्राप्ति भी थी।

हिन्दू चिन्तकों ने मनुष्य के जीवन को दीर्घतम माना था, अर्थात सौ वर्षों तक का जीवन। इस जीवन को इन्होंने पचीस-पचीस वर्षों के चार बराबर भागों में बाँटकर आश्रम व्यवस्था की थी। मनुष्य वानप्रथ और सन्यास, जो क्रमशः ज्ञानप्राप्ति, संसारिक जीवन का उपभोग संसार त्यागकर ईश्वर बन्दना तथा अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति हेतु तपश्चर्या थी। प्रसिद्ध समाज शास्त्री डॉ० कपाडिया ने यह स्वीकार किया है कि पुरूषार्थ के सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति आश्रमों में संगृहीत है। अन्तिम उद्देश्य विशुद्ध सत्य को प्राप्ति था, यही विशुद्ध सत्यपरम

ब्रह्म तथा व्यक्ति का मोक्ष भी था।[1]

आश्रम शब्द संस्कृत की "श्रम" धातु से बना है, इसके अन्तर्गत मनुष्य अपने जीवन में श्रमपूर्वक विभिन्न आश्रमों के कार्य सम्पन्न करता था तथा प्रत्येक आश्रम के पश्चात आगामी आश्रम के लिए सन्नद्ध होता था। जीवन-यात्रा का यह मार्ग चार आश्रमों के माध्यम से था। अतः मनुष्य इन स्तरों (आश्रमों) से होकर अपनी जीवन के परिश्रम के आधार पर थी। इस तरह आश्रम का अर्थ उद्योग प्रयास अथवा प्रयत्न है।

आश्रम व्यवस्था का "उद्भव काल"

आश्रम व्यवस्था का उद्भव उत्तरवैदिक काल में किसी समय हो चुका था, कुछ विचारकों के अनुसार इसका प्रचलन बुद्ध के पश्चात तथा पिटक की रचना के बाद हुआ था। ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ, नामक तीन आश्रमों का वर्णन पाया जाता है। "ब्रह्मचारी" शब्द का प्रयोग कई जगह मिलता है। "यति" का "सन्यासी के अर्थ में दो या तीन स्थानों पर वर्णन मिलता है। इससे सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख उत्तर वैदिक कालीन अनेक ग्रन्थों में मिलता है। "वृहदारण्यकोपनिषद् से ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा था कि अब मैं गृहस्थी से प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूँ।[2]

---

1. के०एम० कपाडिया- मैरेज एण्ड फैमिली इन इण्डिया- पृष्ठ 27
2. "मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा ,

   अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति।

   "वृहदारण्यकोपनिषद" 4/5/2

प्रारम्भ में आश्रमों की संख्या तीन थी। चार आश्रमों का विकास बाद में हुआ। मनु ने भी एक स्थान पर तीन आश्रमों का उल्लेख किया है।[1] इस तरह चारों आश्रमों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जायेगा, साथ ही साथ ताण्ड्य ब्राह्मण के विशेष सन्दर्भ में इसकी विवेचना की जायेगी, क्योंकि शोधप्रबन्ध का वर्ण्य विषय ही यही है जो निम्न प्रकार है-

"ब्रह्मचर्य आश्रम:"

हिन्दू समाज में मनुष्य के बौद्धिक और शिक्षित, जीवन के निमित्त ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की गई थी, विद्या एवं शिक्षा की प्राप्ति इसी के पालन से होती थी। जिससे मनुष्य की ज्ञान गरिमा बढ़ती थी। ।उनका मानसिक एंव बौद्धिक उत्कर्ष का माध्यम यही आश्रम था। यह शब्द "ब्रह्म" और "चर्य" से बना है, ब्रह्मा का अर्थ है -वेद , अथवा महान और "चर्य" का अर्थ है-विचरण एवं अनुसरण करना। इन दोनों को मिला अर्थ होता - ब्रह्म के मार्ग पर चलना। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्राह्मण का वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद में 'उपनयन' करने का निर्देश किया गया है।[2]

प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक तथा पवित्र समझा जाता था, उसे मेखला और दण्ड धारण करने के लिए भी निर्देशित किया गया था, ब्राह्मण की मेखला मूँज की, क्षत्रिय की अपस के खण्ड से युक्त तथा वैश्य की ऊन की होती है। पृथक्-पृथक् वर्ण के लिए आयु का विधान भिन्न-भिन्न था।

- - - - - - - - - - - - - -

1. त एव हि त्रयो लोकास्त एव् त्रय आश्रमा: ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तस्त्रयोऽग्नय:।।" मनुस्मृति - 2/230

2. "वसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृत्तवो वर्णानुनुपूर्व्येण- आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1/0/4

ब्राह्मण के लिए आठ वर्ष, तथा क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रमशः ग्यारह एवं बारह निर्धारित थी।

ब्रह्मचारी का जीवन व्यवस्थित, संयमित और नियमबद्ध होता था, शील, साधना और अनुशासन का वह मन से अनुसरण करता था, उसके भिक्षार्जन भोजन, शयन, गुरु शुश्रूषा आदि पर अनेक नियमों की व्यवस्था थी। ब्रह्मचारी के लिए नृत्य गायन, वाद्य, सुगन्धित वस्तुएँ, माला, पूजा, छाता अंजन, हँसना, देखना, स्त्री का चुंबन तथा स्त्री की मन से कामना करना उसे अकारणस्पर्श करना आदि निषिद्ध था। साथ ही साथ सत्य बोलना, पाप से दूर तथा तथा गुरु से पूर्व ही जाग जाना जरूरी था। विद्यार्थी ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि प्रायः बारह वर्ष मानी गयी है। शिक्षा समाप्ति के बाद वह गुरु की आज्ञा प्राप्तकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था। ब्राह्मणों में इसका बहुत ज्यादा उल्लेख नहीं पाया जाता है।

"गृहस्थ आश्रम"

यह आश्रम अन्य तीनोंसे महत्वपूर्ण है, इसी पर अन्य आश्रम भी आश्रित थे।[1] ब्रह्मचारी के समावर्तन समारोह के बाद विवाह के साथ जीवन प्रारम्भ होता था। यह गुरु की आज्ञा प्राप्तकर गृह की ओर प्रस्थान करता था। मनु के अनुसार जिस प्रकार सभी नदियाँ सागर में संस्थित हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ आश्रम में।[2]

---

1. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः ।
   तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।। मनुस्मृति 3/77
2. यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थतम् ।
   तथैवाश्रमिणःसर्वे गृहस्थ यान्ति संस्थितम् ।।

"मनुस्मृति 6/90"

"महाभारत" से विदित भी होता है कि तत्कालीन समाज में ऐसे अनेक ब्राह्मण थे, जो शस्त्रोपजीवी थे, तथा अपने क्षत्रिय कर्म से विख्यात थे। इनमें कृपाचार्य, द्रोणाचार्य अश्वत्थामा ऐसे ही बी और पराक्रमी ब्राह्मण थे जो युद्ध कला में विख्यात थे। इसके साथ-साथ वे अन्य वर्णों के कार्यों एवं कर्मों को अपनी जीविका को सुचारूरूप से चलाने के लिए अपना सकते थे। वास्तव में यही आपत्तिकालिक कर्म थे।

"क्षत्रिय"

"क्षत्रिय" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक स्थलों में मिलता है। इसके लिए कहीं-कहीं "क्षत्र" शब्द का प्रयोग उस काल में प्राय: "शूरता" और "वीरता" के अर्थ में लिया जाता था।"[1] आर्यों केतत्कालीन समाज में क्षत्रिय समूह के रूप में ऐसे शूरबीरों का एवं वर्ग बन गया था जो यहाँ के मूल निवासियों से युद्ध करके उनके भू क्षेत्रों पर आधिपत्य स्थापित करता था। ऐसे ही शौर्यवीर लोग देवताओं और राजाओं की श्रेणीमें सम्मिलित किये गये थे। "राजन्य" शब्द का प्रयोग भी क्षत्रिय वर्ग के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में "राजन्य " शब्द का वर्णन आया हुआ है।"[2]

ताण्ड्य महाब्राह्मण[3] में कहा गया है कि "क्षत्रिय" की उत्पत्ति प्रजापति के हृदय और बहुओं से हुई थी। चूँकि यह वर्ण भुजाओं से उत्पन्न हुआ है, इसलिए क्षत्रिय को अपने भुजा के बल पर गर्व होता है। क्षत्रिय वर्ग वास्तव में राजकुल से

- - - - - - - - - - - - - - -

1• ऋग्वेद - 8/35/16-18,

2• ऋग्वेद - 10/90/2

सम्बद्ध था।"[1] "राजन्य" के रूप में वह राजपरिवार का भार कराता है। साथ ही प्रशासन और सैनिक योग्यता का भी परिचय देता है। इस वर्ग के सदस्य युद्ध कौशल और प्रशासनिक योग्यता में भी निपुण थे। उस युग के शासक मात्र राजा ही नहीं थे, बल्कि वे उच्च कोटि के शिक्षक, दार्शनिक, विद्वानों के संरक्षक और बौद्धिक गवेषणाओं में सुविज्ञ थे।

ब्राह्मणग्रंथों के अध्ययन से यह पता चलता है, कि ब्राह्मणों के दार्शनिक पक्ष और तार्किक बुद्धि की स्थिति समझते हुए समानता की ओर अग्रसर होकर दार्शनिक अन्वेषण किया। इसमें यह भी उल्लेख मिलता है कि पौरोहित्य याज्ञिक क्रियाएँ, दार्शनिक खोजों आदि में पारंगत होकर कुछ क्षत्रिय शासकों ने ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती दी थी। "क्षत्रिय विदेह शासक जनक से याज्ञवल्क्य ने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया था। उनके निर्देशन में अनेक विद्वानों की गोष्ठियाँ आयोजित की जाती थी, ब जिनमें दर्शन शास्त्र पर भी विचार विनिमय किया जाता था।[2]

"शतपथ ब्राह्मण"[3] में उल्लेख मिलता है कि "धर्म दर्शन के वाद-विवाद में राजा जनक ने ब्राह्मणों को परास्त किया था, इसके बदले ब्राह्मणों द्वारा "राजबन्धु" की उपाधि प्राप्त की थी। उनके ब्रह्मज्ञान के कारण उन्हें ब्राह्मण कहा गया था। क्षत्रियों को ब्राह्मण काल में भी कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे। जिनमें हम उन्हें निम्न प्रकार से संक्षेप में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं-

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. अथर्ववेद- 7/103 - " को अस्या वो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियोइच्छन्।
को यज्ञ कामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुतदीर्घमायुः।"

2. शतपथ ब्राह्मण -11/6/2/5

3. शतपथ ब्राह्मण- 11/6/2/5, वैदिक इंडेक्स-प्रथम भाग, पृष्ठ 272।

"क्षत्रिय" युद्ध में जीती गई सारी वस्तुएँ ले लेते थे, जो क्षत्रियों के विशेषाधिकार को स्पष्ट करता है। मनु के अनुसार -"रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धनधान्य(सब तरह के अन्न), पशु (गौ, भैंस) इत्यादि, स्त्रियों(दासी इत्यादि), सब तरह के द्रव्य (गुड़ नमक आदि) और कुप्य (सोना चाँदी के अलावा ताँबा, पीतल आदि धातुओं को जो योद्धा जीतकर लाता था, उसी का होता था।"[1]

वर्ण के अनुसार क्षत्रियों के लिए दण्ड की व्यवस्था भी क्रमानुसार की गई थी, ब्राह्मणों को सबसे कम दण्ड मिलता था और शूद्र को सबसे अधिक। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि ब्राह्मण से कटुवचन कहने वाला क्षत्रिय सौ पण, वैश्य डेढ़ सौ पण या दो सौ पण और शूद्र बध से दण्डनीय होते थे।"[2]

समाज में कुछ ऐसे कार्य थे, जो क्षत्रियों के लिए वर्जित थे। वेद पढ़ाने, यज्ञ करने और दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मणों का था, यद्यपि वैदिक युग के अनेक क्षत्रिय शासकों ने पढ़ाने का भी कार्य किया था। यह विवरण भी पाया जाता है कि क्षत्रिय वेद पढ़ सकते थे, परन्तु पढ़ा नहीं सकते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि अध्यापन का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही प्राप्त था।

संकट काल में क्षत्रियों के लिए भी यह व्यवस्था की गई थी कि वे संकट काल में अपने से नीचे वर्ण के कर्म अपना सकते थे। क्योंकि कभी-कभी ऐसी स्थिति होती थी कि व्यक्ति अपने वर्ग के कर्म करते हुए भी अपने परिवार का पोषण कर सकने में असमर्थ होता था। उस समय वह अपनी आजीविका चलाने के

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1. मनुस्मृति -7/96; "रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्।।"

2. मनुस्मृति-8/267 "शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वेवा शूद्रस्तु वधमर्हति ।।"

लिए दूसरे वर्ण के कार्य करता था। कहीं कहीं पर कहा गया है, इस निमित्त क्षत्रिय वैश्य कर्म अपना सकताथा। इसी प्रकार का वर्णन धर्म सूत्रों तथा धर्म ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

"मैक्डानेल" और "कीथ" महोदय के विचार से यह उल्लेख इस बात का प्रमाण है, कि क्षत्रिय चारणों के अलग वर्ग का भी, अस्तित्व था। जिनकी कृतियों से महाकाव्य स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ।"[1] "आदित्य"[2] "सोम"[3] "प्रजापति"[4] "मित्र"[5] "वरुण"[6] एवं "इन्द्र"[7] देवताओं की भी क्षत्रियों से तुलना की गई है। अतः ये देवता देवताओं में क्षत्रिय माने जाते थे। प्राप्त संकेतो से विदित होता है कि इन्द्र, सोम, वरुण आदित्य पराक्रमी बीर एवं महत्वशाली देवता थे।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. वैदिक इण्डेक्स - 1/230

2. ऐतरेय ब्राह्मण -6/20

3. कौषीतकि ब्राह्मण -9/5

4. शतपथ ब्राह्मण - 8/2/3/11

5. तैत्तिरीय ब्राह्मण -2/5/7/4

6. शतपथ ब्राह्मण - 2/5/2/6

   गोपथ ब्राह्मण - 2/6/7

7. कौषतकि ब्राह्मण- 12/8,

   शतपथ ब्राह्मण - 2/5/2/27

" वैश्य "

वैश्य का स्थान समाज में निम्न था। इसे ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद तीसरा स्थान प्राप्त था। इसे "अनस्य बलिकृत" भी कहा गया है। वस्तुत: यह कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वैश्य वर्ण का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के बाद ही था। वास्तव में इस वर्ग का प्रमुख कार्य था - पशुपालन थातथा अन्नोत्पादन। इनकी सबसे बड़ी इच्छा तो गाँव का मुखिया बनने की होती थी। यज्ञीय क्रियाओं में भी वैश्य का सहयोग आवश्यक माना जाता था, दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कहा गया है कि "वैश्य स्त्री" के पुत्र का राजा के रूप में कभी भी अभिषेक नहीं होता है।

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्णों के घनिष्ठ सम्बन्ध की कामना की गयी थी। इसके साथ ही साथ यहआशा भी व्यक्त की गई थी कि जो जीव रमणीय अर्थात उचित आचरण करते थे, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैसी उत्तम योनि में जन्म लेते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इन तीन वर्णों की पारस्परिक घनिष्ठता की कामना भी हुई थी। "वैश्य" के लिए "अर्य शब्द का प्रयोग भी मिलता है। व्यापरिक व्यवस्था और कृषि का समस्त भार उसके ऊपर निर्भर करता था। राज्य और देश की आर्थिक स्थिति उसी के प्रयास से सुदृढ़ होती थी। अर्थ संबधी जितनी भी नीतियाँ होती थी, उनका संचालन वैश्यवर्ग ही करता था। अध्ययन, यजन और दान उसका परम पुनीत कर्तव्य था।

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में प्रजापति से वैश्य वर्ण की उत्पत्ति बतलाई गयी है। "ब्राह्मण साहित्य में देवताओं में भी चातुर्वर्ण्य की कल्पना करते हुए वैश्य देव और मरुतों को वैश्य माना गया है।[2] ब्राह्मण ग्रन्थों में इनके क्रिया कलापों पर

विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इनकी चारित्रिक विशेषताओं का भी वर्णन इन ग्रन्थों में किया गया है। इनकी समृद्धि किन-किन वस्तुओं पर निर्भर करती थी, इस विषय में भी विस्तृत वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आया है, वैसे तो इसका वर्णन पूर्व से लेकर उत्तर वैदिक तथा महाकाव्यों इत्यादि में प्रचुर मात्रा में आया है। इसी विषय में ताण्ड्य[1] ब्राह्मण में कहा गया है "वैश्य वर्ण की समृद्धि पशुओं पर निर्भर करती थी।" इससे यह तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है, कि इनका पशुपालन करना प्रमुख व्यवसाय तथा धर्म था।

धार्मिक क्षेत्र में भी वैश्यों को अधिकार प्राप्त था, अन्य कालों की भाँति ब्राह्मण ग्रंथों में इस विषय पर पर्याप्त विवेचन देखने को मिलता है। इनकीउपस्थित धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करने के समय आवश्यक मानी जाती थी, इससे इनकी धार्मिक भावना का सम्यक आभास हो जाता है। "ताण्ड्यब्राह्मण"[2] में कहा गया है कि धार्मिक क्षेत्र में भी वैश्यों को अधिकार प्राप्त था। वैश्य प्राय: सभी यज्ञों को कर सकता था, वह वर्षाॠतु में अग्न्याधान करता था।"

ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट संकेत मिलता है कि अर्थ व्यवस्था का संचालन यही वर्ग करता था, इनके द्वारा ही राज्य को विकास के मार्ग पर लाया जाता था, बिना इनके सहयोग के ये क्रियाएँ असम्भव थीं। सकल राष्ट्र की समृद्धि चूँकि अर्थव्यस्था पर ही निर्भर करती है, इसलिए इस क्षेत्र में इनका सहयोग अतुलनीय

- - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 18/4/6

2. ताण्ड्य महाब्राह्मण - 6/1/10, शतपथ ब्राह्मण -2/1/3/5

और हरदृष्टि से अपेक्षित भी था। ऐतरेय[1] ब्राह्मण में कहा गया है कि वैश्य के अन्न और धनोपार्जन पर राज्य के सब वर्णों का काम चलता था, इसलिए, वैश्य ही राष्ट्र है" ऐसा कहा गया है। ग्रामणी के पद को वैश्य वर्ण ही अलंकृत करता है, ऐसा वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है।"[2]

पुनः हम दूसरी तरफ यह भी देखते है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी थीं, जिन्हें वैश्यों के लिए बेचना वर्जित था। मद्य, माँस, लोहा और चमड़ा जैसी वस्तुएँ बेचना उनके लिए निषिद्ध किया गया है। यह भी विवेचन मिलता है कि जो व्यापारी मिलावटी वस्तु बेचते थे तथा साधारणवस्तु को अति-उत्तम कहकर बेचने का प्रयास करते थे, वे दण्डित भी किये जाते थे।

" शूद्र "

शूद्र का समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के बाद चौथा स्थान था। शूद्र का प्रधान कार्य परिचारिका वृत्ति थी। परिचारिक भृत्य के रूप में यह कार्य करता था। यह उस समय की रीति बन गयी थी कि इन्हें भृत्य के रूप में निकाल दिया जाय या रख लिया जाय। यहाँ तक कहा गया है कि शूद्र चाहे कितना ही वैभव से पूर्ण तथा समृद्धसम्पन्न हो , मगर वह दूसरे का भृत्य होने के अलावा और कुछ नहीं कर सकता। "अन्य तीन वर्णों" की भाँति, ब्राह्मण ग्रंथों में भी यह संकेत मिलता है कि शूद्र की उत्पत्ति प्रजापति के चरणों से हुई।[3]

- - - - - - - - - - - - - - -

1. ऐतरेय ब्राह्मण -6/1/10, शतपथ ब्राह्मण -2/1/3/5

2. ऐतरेय ब्राह्मण - 8/27 ;3. शतपथ ब्राह्मण - 5/3/1/6

3. ताण्ड्य महाब्राह्मण- 6/1/11

शूद्र का प्रधान कर्म अपने से ऊँचे वर्ण वालों को सेवा करना और परिवारिक वृत्ति करना था। यज्ञ के लिए वह पूर्णतया अयोग्य होता था। यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ स्थल पर उसकी उपस्थित पूर्णतया वर्जित थी। "उसे 'असत्य' भो माना गया है। शूद्र स्त्री और आर्य पुरूष के संबंध का भो वर्णन किया गया मिलता है। ऋग्वेद में केवल एक बार ही इसका उल्लेख आया है और वह भी पुरूष सूक्त में। "इसे विराटपुरूष के पैरों से उत्पन्न मानकर इसके समाज में,प्राप्त स्थान का भो विवेचन किया गया है, निश्चय ही इनका स्तर काफी निम्न था।" "ऋग्वैदिककाल" में चारों वर्णो के मध्य मित्रता थी, बंधुता थी। इस समय जन्म का महत्व समाज में नहीं था। वर्गीकरण के ऊँच-नोच को भावना का भी कोई प्रभाव नहीं था। व्यवसायों को अ अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

"जैमिनीय ब्राह्मण"[1] में कहा गया है कि शूद्र की उत्पत्ति प्रजापति के चरणों से हुई है, और इसका कोई देवता नहीं होता था। ब्राह्मण ग्रंथों में एक जगह कहा गया है कि शूद्रशब्द परिवार के दासों के लिए हो नहीं प्रयुक्त हुआ है, वरन् आर्य और अनार्यो के भेद को भो प्रकट करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

यद्यपि विख्यात और विद्वान ऐसे ऋषियों के नाम भी मिलते हैं,जो शूद्र से उत्पन्न हुए थे उदाहरणतया -पराशर ऋषि श्वापक नारी से ,व्यास ऋषि धीवर कन्या से , वशिष्ठ ऋषि गणिका से कपि जाबाल,चाँडाल नारी से ऋषि मदनपाल नाविक स्त्री से जन्में थे। इसके अलावा ये भी उदाहरण मिलते हैं, कि शूद्र ऋषियों द्वारा ज्ञान भी प्राप्त करते थे।

1· जैमिनीय — ब्राह्मण - 1/68-69

2· ताण्ड्य महाब्राह्मण - 5/5/14

शूद्रों की त्वचा रंग[1] एवं रहन सहन[2] के साथ आर्यो को तुलना ब्राह्मण ग्रन्थ साहित्य से की गयी है। शूद्र शब्द के लिए 'असुर' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। महाभारत में कहा गया है कि उसका प्रमुख धर्म अन्य वर्णों की सेवा करना था, परिचर्या वृत्ति ही उसकी प्रधान वृत्ति थी।[3] "तीनो वर्णों के सेवकके रूप में उसे समस्त वर्णों का दास माना गया था।"[4]

कोई भी शूद्र विद्याध्ययन के निमित्त आचार्य के आश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता था, अनाधिकार तप करने वाला शूद्र उपेक्षनोय और निन्दनीय होता था। शूद्र वर्ण के 'शाम्बूक' ने अनाधिकारपूर्वक तप करने को चेष्टा की थी, जिसपर राम ने वर्ण धर्म को सुरक्षा के लिए उसका वध कर डाला था। शूद्र अध्ययन-अध्यापन भी नहीं कर सकता था। विदुर ने यह स्वयं स्वीकार किया था कि वे शूद्र होने के कारण शिक्षा प्रदान करने के अधिकारी नहीं है।

उक्त विवेचन के बाद हम यह भी देखते है कि पुराणों में शूद्रों के प्रति उदार भावना व्यक्त की गई है, उन्हें दान करने को भी अनुमति प्रदान की गयी है तथा इन्द्रिय निग्रह के साथ मोक्ष को प्राप्ति का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु इस उदार भावना के विपरीत वास्तविक जीवन में उसका स्थान प्रशंसनोय नहीं था। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में उन्हें एक ओर सूत्रों के माध्यम से अवरूद्ध कर दिया गया था। दूसरी ओर थोड़ी बहुत उदारता दिखलाते हुए उनसे उच्च कार्य करने की आशा व्यक्त को गयी थी।

- - - - - - - - - - - - - - -

1· ताण्ड्य ब्राह्मण -5/5/14-16, शतपथ ब्राह्मण-6/4/4/9

2· ऐतरेय ब्राह्मण -7/17 ; तैत्तिरीय ब्राह्मण - 1/2/6/7

3· महाभारत 5/132/30 -6 शूद्रं परिचरेच्चं तान्"।

पुनः हम यह भी देखते हैं कि धीरे-धीरे समाज में शूद्रों के दो वर्गों का विकास होने लगा। एक तो वह वर्ग था जो ब्राह्मणों के निर्देशानुसार विशुद्ध आचरण और धार्मिक क्रिया सम्पादित करता था और दूसरा वह वर्ग था जो इसविशुद्ध आचरण और सात्विक चरित्र से दूर असभ्य असंस्कार युक्त तथा हीन जीवन व्यतीत करता था।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन करने पर विदित होता है कि बहुपशुमान और समृद्ध होने पर भी शूद्र को यज्ञ करने का अधिकार नहीं प्राप्त होता था क्योंकि कोई देवता उसके लिए उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए शूद्र दास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।"[1] इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस काल में शूद्र को यज्ञीय क्रिया के सम्पादन के लिए पूर्णतया अयोग्य माना जाता था। उसको इससे पूर्णतया वंचित कर दिया गया था। जाति के बंधन भी उस काल मे कठोर थे, ऐसा विवरण प्राप्त होता है। ऐतरेय[2] ब्राह्मण में कहा गया है कि जातिसम्बन्धी विवेचन में शूद्रों को दूसरे का सेवक, इच्छानुसार वहिष्कृत एवं वध किये जाने योग्य बतलाया गया है। ताण्ड्य[3] ब्राह्मण में इसे निश्चय ही यज्ञ के अयोग्य सिद्ध किया गया है।

शतपथ[4] ब्राह्मण में एक जगह उल्लेख आया है कि उच्च जातियाँ ही सब कुछ हैं, 'अग्नि होत्र' के लिए शूद्र दूध नहीं दुहता था क्यों कि उसकी उत्पत्ति असत् से हुई।" तैत्तिरीय[5] ब्राह्मण में शूद्र की उत्पत्ति असत् से मानी जाती है। "ब्राह्मण

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण -6/1/11
2. ऐतरेय ब्राह्मण -7/29
3. ताण्ड्य ब्राह्मण -6/1/11
4. शतपथ ब्राह्मण - 2/1/4/2
5. तैत्तिरीय ब्राह्मण -3/2/3/9

ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शूद्र पूर्णतया द्विजों से निम्न माने जाते थे। उनके लिए ब्राह्मण की सेवा बहुत ही महत्व की बात थी। अगर ब्राह्मण की सेवा करने से उनको आजीविका नहीं चल पाती थी तो धनिक वैश्य की सेवा करते थे।

इस तरह स्पष्ट है कि यज्ञ को छोड़कर अन्य सभी अवसरों पर शूद्रों को सम्मान पूर्ण स्थान प्राप्त था। वैधानिक दृष्टि से वंचितहोते हुए भी क्रमशः स्व-तन्त्र व्यक्तियों के रूप में अपना स्थान बना सकने में समर्थ हुए थे। ताण्ड्य ब्राह्मण मे उल्लेख है कि उस युग में ये शूद्र बहुपशुमान और समृद्धशाली बन गये थे[1] बस, विशेष कर याज्ञिक क्रियाओं का इनके लिए विशिष्ट रूप से निषेध की बात कही गयी थी।

प्राचीन काल में भारत ही नहीं संपूर्ण यूरोप इत्यादि देशों में भी दास प्रथा का प्रचलन था, सुमेरीयन तथा वैबीलोनियन सभ्यताओं में भी दास प्रथा का प्रचलन पाया जाता था। विवेचन . . इसका पहले ही किया जा चुका है, इसलिए उसकी पुनः आवृत्ति अनुचित है। इस तरह उक्त व्याख्या से ताण्ड्य कालीन वर्ण व्यवस्थाकास्वरूपस्पष्ट हो जाता है।

" ताण्ड्य महाब्राह्मण और आश्रमव्यवस्था"

ब्राह्मण साहित्य में एक आदर्श जीवन का चित्रण मिलता है। व्यक्ति का जीवन तीन भागों में बँटा था। प्रत्येक भाग को आश्रम कहते हैं। "ब्राह्मण साहित्य में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका सबसे पहले प्रयोग उपनिषद् साहित्य में पाया जाता है।"[2] लेकिन जिन उपनिषदों में इसका प्रयोग पाया जाता हैउसको

---

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/1/11

2. श्वेताश्वर . -6/21

बौद्ध काल के पूर्व का नहीं माना जा सकता है।[1] वास्तव में "आश्रम" शब्द के पीछे आदर्श जीवन की भावना निहित थी। उसका उद्देश्य व्यक्ति को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों का पालन करने की भावना थी। ब्राह्मणकाल में गृहस्थ, आश्रम का विशेष महत्व पाया जाता है। अपत्नीक यज्ञ का अधिकारी नहीं माना जाता था।[2] चूँकि यह युग कर्मकाण्डीय भी था, इसलिए कर्मकाण्ड प्रधान युग में उसका मूलउद्देश्य यज्ञीय अनुष्ठानों के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करना था।

साधरणतया जीवन को चार भागों में बाँटा जाता है, इसके हर भाग को आश्रम कहते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं- (1) ब्रह्मचर्य विद्यार्थी जीवन का काल (2) गृहस्थ - धर्म, अर्थ, और काम की प्राप्ति का काल। (3) वानप्रस्थ - वह वस्तुतः सांसारिक जीवन से विरक्ति का काल है। (4) सन्यास- आश्रम।

वस्तुतः देखा जाये तो ब्राह्मण साहित्य में चारों आश्रम की स्थिति के विषय में संकेत मिलते हैं। परन्तु कर्मकाण्ड प्रधानसाहित्य होने के कारण ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम को बहुत हीप्रतिष्ठा की गई है।

ब्राह्मण साहित्य में "ब्रह्मचर्य" शब्द को प्रयोग एवं ब्रह्मचारी धर्मका विस्तृतविवेचन का उल्लेख पाया जाता है।[3] ब्राह्मणकाल में यह आश्रम पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। अग्नि कोगृहपति[4] गृह में जिन शब्दों से पुकारते थे, गृहस्थ के लिए भी गृहपति एवं गृहमेधिन् शब्दों का प्रयोग पाया जाता है।

---

1. वैदिक इण्डेक्स -1/77
2. शतपथ ब्राह्मण -5/1/6,10
3. पंचविंश ब्राह्मण -23/1/5
4. पंचविंश ब्राह्मण -23/1/8

आश्रम चतुष्टय का निष्ठापूर्वक सम्पादन व्यक्ति के उत्कर्ष का मूलाधार था। आश्रम के मार्ग पर जीवन सरल एवं सहज ढंग से गतिमान होता था। पुरुषार्थों का पूर्णरूप से क्रियान्वयन भी आश्रमों के माध्यम से ही सम्पन्न किया जाता था। प्राचीन हिन्दू समाज में आश्रमव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत सुगठित और सुव्यवस्थित करने के लिए भारतीय समाज में आश्रम-व्यवस्था की गयी थी। मानव जीवन को समग्रता पूर्वक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उसे आश्रमों के अन्तर्गत विभाजित किया गया था।

इस दृष्टि से आश्रम -व्यवस्था का दर्शन प्राचीन व्यवस्थाकरों के अद्वितीय ज्ञान एवं बुद्धि का प्रतीक है, जिसमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक जीवन को ज्यादा महत्व देते थे। मानव जीवन को इस व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास नामक चार आश्रमों में विभाजित किया गया था। जिसका अन्तिम लक्ष्य था, मोक्ष कीप्राप्ति। दार्शनिक प्रेरणा से मनुष्य का जीवन एक आश्रम से होता हुआ क्रमानुसार अन्तिम आश्रम तक पहुँचता था तथा अपनी कर्मनिष्ठता और सात्त्विकता से चरम लक्ष्य प्राप्त करता था। यह गति ही परम ब्रह्म की प्राप्ति भी थी।

हिन्दू चिन्तकों ने मनुष्य के जीवन को दीर्घतम माना था, अर्थात सौ वर्षों तक का जीवन। इस जीवन को इन्होंने पचीस-पचीस वर्षों के चार बराबर भागों में बाँटकर आश्रम व्यवस्था की थी। मनुष्य वानप्रथ और सन्यास, जो क्रमशः ज्ञानप्राप्ति, संसारिक जीवन का उपभोग संसार त्यागकर ईश्वर बन्दना तथा अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति हेतु तपश्चर्या थी। प्रसिद्ध समाज शास्त्री डॉ० कपाडिया ने यह स्वीकार किया है कि पुरुषार्थ के सिद्धान्त को वास्तविक अभिव्यक्ति आश्रमों में संगृहीत है। अन्तिम उद्देश्य विशुद्ध सत्य की प्राप्ति था, यही विशुद्ध सत्यपरम

ब्रह्म तथा व्यक्ति का मोक्ष भी था।[1]

आश्रम शब्द संस्कृत की "श्रम" धातु से बना है, इसके अन्तर्गत मनुष्य अपने जीवन में श्रमपूर्वक विभिन्न आश्रमों के कार्य सम्पन्न करता था तथा प्रत्येक आश्रम के पश्चात आगामी आश्रम के लिए सन्नद्ध होता था। जीवन-यात्रा का यह मार्ग चार आश्रमों के माध्यम से था। अतः मनुष्य इन स्तरों (आश्रमों) से होकर अपनी जीवन के परिश्रम के आधार पर थी। इस तरह आश्रम का अर्थ उद्योग प्रयास अथवा प्रयत्न है।

आश्रम व्यवस्था का "उद्भव काल"

आश्रम व्यवस्था का उद्भव उत्तरवैदिक काल में किसी समय हो चुका था, कुछ विचारकों के अनुसार इसका प्रचलन बुद्ध के पश्चात तथा पिटक की रचना के बाद हुआ था।ब्रह्मचर्य गृहस्थ,वानप्रस्थ, नामक तीन आश्रमों को वर्णन पाया जाता है। "ब्रह्मचारी" शब्द का प्रयोग कई जगह मिलता है। "यति" का "सन्यासी" के अर्थ में दो या तीन स्थानों पर वर्णन मिलता है। इससे सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख उत्तर वैदिक कालीन अनेक ग्रन्थों में मिलता है। "वृहदारण्यकोपनिषद् से ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा था कि अब मैं गृहस्थी से प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूँ।[2]

---

1. के0एम0 कपाडिया- मैरेज एण्ड फैमिली इन इण्डिया- पृष्ठ 27
2. "मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा ,

   अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति।

   "वृहदारणयकोपनिषद" 4/5/2

प्रारम्भ में आश्रमों की संख्या तीन थी। चार आश्रमों का विकास बाद में हुआ । मनु ने भी एक स्थान पर तीन आश्रमों का उल्लेख किया है।"[1] इस तरह चारों आश्रमों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जायेगा, साथ ही साथ ताण्ड्य ब्राह्मण के विशेष सन्दर्भ में इसकी विवेचना की जायेगी, क्यों कि शोधप्रबन्ध का वर्ण्य विषय ही यही है जो निम्न प्रकार है-

" ब्रह्मचर्य आश्रम:"

हिन्दू समाज में मनुष्य के बौद्धिक और शिक्षित, जीवन के निमित्त ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की गई थी, विद्या एवं शिक्षा की प्राप्ति इसी के पालन से होती थी। जिससे मनुष्य की ज्ञान गरिमा बढ़ती थी।।उनका मानसिक एवं बौद्धिक उत्कर्ष का माध्यम यही आश्रम था। यह शब्द "ब्रह्म" और "चर्य" से बना है, ब्रह्मा का अर्थ है -वेद , अथवा महान और "चर्य" का अर्थ है-विचरण एवं अनुसरण करना। इन दोनों को मिला अर्थ होता - ब्रह्म के मार्ग पर चलना।आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्राह्मण का वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद में 'उपनयन' करने का निर्देश किया गया है।[2]

प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक तथा पवित्र समझा जाता था, उसे मेखला और दण्ड धारण करने के लिए भी निर्देशित किया गया था, ब्राह्मण की मेखला मूँज की, क्षत्रिय की अपस के खण्ड से युक्त तथा वैश्य की ऊन की होती है। पृथक्-पृथक् वर्ण के लिए आयु का विधान भिन्न-भिन्न था।

- - - - - - - - - - - - -

1. त एव हि त्रयो लोकास्त एव् त्रय आश्रमा: ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तस्त्रयोऽग्नय:।।" मनुस्मृति - 2/230

ब्राह्मण के लिए आठ वर्ष, तथा क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रमशः ग्यारह एवं बारह निर्धारित थी।

ब्रह्मचारी का जीवन व्यवस्थित , संयमित और नियमबद्ध होता था, शील, साधना और अनुशासन का वह मन से अनुसरण करता था, उसके भिक्षार्जन भोजन, शयन ,गुरु शुश्रूषा आदि पर अनेक नियमों की व्यवस्था थी। ब्रह्मचारी के लिए नृत्य गायन,वाद्य, सुगन्धित वस्तुएँ ,माला, पूजा , छाता अंजन, हँसना,देखना, स्त्री का चुंबन तथा स्त्री की मन से कामना करना उसे अकारणस्पर्श करना आदि निषिद्ध था। साथ ही साथ सत्य बोलना, पाप से दूर तथा तथा गुरु से पूर्व ही जाग जाना जरूरी था। विद्यार्थी ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि प्रायः बारह वर्ष मानी गयी है। शिक्षा समाप्ति के बाद वह गुरु की आज्ञा प्राप्तकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था। ब्राह्मणों में इसका बहुत ज्यादा उल्लेख नहीं पाया जाता है।

"गृहस्थ आश्रम"

यह आश्रम अन्य तीनोंसे महत्वपूर्ण है, इसी पर अन्य आश्रम भी आश्रित थे।[1] ब्रह्मचारी के समावर्तन समारोह के बाद विवाह के साथ जीवन प्रारम्भ होता था। यह गुरु की आज्ञा प्राप्तकर गृह की ओर प्रस्थान करता था। मनु के अनुसार जिस प्रकार सभी नदियाँ सागर में संस्थित हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ आश्रम में।[2]

---

1. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः ।
   तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।। मनुस्मृति 3/77
2. यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम् ।
   तथैवाश्रमिणःसर्वे गृहस्थ यान्ति संस्थितम् ।।

जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कार गृहस्थ आश्रम में सम्पन्न किये जाते थे। "गर्भाधान","पुंसवन","सीमन्तोन्नयन","जातकर्म" "नामकरण";निष्क्रमण" "अन्नप्राशन","कर्णछेदन","विद्यारम्भ","उपनयन","अन्त्येष्टि" आदि विभिन्न संस्कार गृहस्थ आश्रम के माध्यम से ही सम्पन्न किये जाते थे।

विवाह के बाद व्यक्ति गृहस्थ बनता था, पुनः गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सभी संस्कार आश्रम में रहकर ही उसे कार्यान्वित करने के लिए निर्देश किया था। वास्तव में केवल समावर्तन संस्कार ही ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा समाप्ति के बाद ब्रह्मचर्य के लिए सम्पन्न किया जाता था। सभी संस्कारों का गृहस्थ आश्रम से अटूट संम्बद्ध था।

गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत व्यक्ति कई ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता था। ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार " व्यक्ति पर चारप्रकार के ऋण थे- पैदा होते ही वह देवताओं ,पितरों ,ऋषियों और मनुष्यों का ऋणी हो जाता था।[1] अतः इन ऋणों से मुक्ति पाना एच्छिक नहीं, बल्कि अनिवार्य कर्तव्य था।"[2] प्रायः देवऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण की चर्चा प्रायः सभी व्यवस्थाकारों ने अपने ग्रंथों में किया भी है।

मनु ने यह व्यवस्था दी है कि उक्त तीनों ऋणों को पूरा करके मन को मोक्ष में लगाये बिना मोक्ष सेवी व्यक्ति नरक में जाता है।[3] अर्थात इन तीनों ऋणों से मुक्ति पाना गृहस्थ के लिए अनिवार्य बताया गया है।

- - - - - - - - - - - - - - -

1• शतपथ ब्राह्मण- 1/7/2/10, महाभारत अनुशासन पर्व -1/120/15

2• जैमिनि -7•2•31

"पंचमहायज्ञ का भी गृहस्थों के लिए व्यवस्था का विधान सब जगह पाया जाता है। गृहस्थ के लिए यज्ञ का करना जल्दी समझा जाता था। ये पाँच महायज्ञ के सिद्धान्त ने गृहस्थ को प्रत्येक दृष्टि से उन्नतिशील और [illegible]" जागरूक बनाने की चेष्टा की है, वास्तव में ये पंच महायज्ञ थे- ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ।[1] इन पंच महायज्ञों से सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पक्ष को ये विकसित करने में सिद्ध थे। मनुष्य को धर्म के प्रति सचेष्ट करना इनकी मूल भावना थी।

गृहस्थ चार प्रकार के बताये गये है-"कुसूलधान्य", "कुंभधान्य" "अश्वस्तन" और "कपोतीमाश्रित"। कुसूलधान्य वे थे जो यजन, याजन, पठन, पाठन, दान, और प्रतिग्रह को सम्पन्न करते थे। कुम्भधान्य- उनको कहा जाता था, जो यज्ञ अध्ययन और दान में निष्ठावान होते थे। अश्वस्तन वे गृहस्थ थे जो अध्ययन और दान में अधिक व्यस्त रहते थे। कपोतीमाश्रित इन्हें कहा गया जिसकी रुचि केवल स्वाध्याय में ही थी।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी गृहस्थ आश्रम सम्बन्धी विवरण प्राप्त होता है, पिता का पुत्र के प्रति तथा पुत्र का पिता के प्रति पुनीत भावना तथा कर्तव्य की भावना क्या थी, इसका विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। प्रत्येक जाति वाले अपने को श्रेष्ठ बनाने के लिए लालायित तथा प्रयत्नशील रहते थे, इसका विवरण भी

---

1. शतपथ ब्राह्मण - 11/5/6/1 "पन्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।"

मिलता है पंचविंश ब्राह्मण के अनुसार "प्रत्येक गृहस्थ में अपने जाति वालों में श्रेष्ठ बनने की इच्छा होती थी।"[1] इस तरह ब्राह्मण काल में इस आश्रम के विषय में उल्लेख पाया जाता है जो सामाजिक जीवन को और व्यक्ति के जीवन के नियमों का संकेत करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में पिता-पुत्र के सम्बन्ध को भी दर्शाया गया था, जिसका विवरण हमें "ताण्ड्यब्राह्मण"[2] में मिलता है. जिसमें कहा गया है "पुत्रों के अपराध करने पर पिता उन्हें क्षमा करता था, तथा सुमार्ग पर ले जाने काप्रयत्न करता था। पितृऋण के अन्तर्गत जो व्यवस्था की गयी थी, कि पुत्र भी पितृऋण से तभी मुक्त होता था जब वह भी एक पुत्र उत्पन्न करे, यह उसका आवश्यक कर्तव्य था। ब्राह्मण ग्रन्थों में पुत्रात्मक का प्रयोग किया गया है, जिससे पिता और पुत्र के सम्बन्धों का आभास मिल ही जाता है। "गोपथ"[3] ब्राह्मण में कहा भी गया है " पुत्र को पुत्रात्मक नरक से तारने वाला माना गया है।" मगर दूसरी ओर ऐतरेय ब्राह्मण[4] में कहा गया है "पिता चाहे तो वह उसे बेच सकता था।" इससे उस काल की कमी तथा रूढ़िवादिता तथा स्वेच्छा चारिता का भी भास मिलता है, जो कुल मिलाकर किसी भी दृष्टि से ही उचित नहीं मानी जा सकती।

प्राचीन काल में गृहस्थ के लिए जो नियम और आचरण निर्दिष्ट किये गये थे, ये निश्चय ही उसके त्याग और आध्यात्मिक जीवन की ओर झुके हुए थे।

---

1. पंचविंश ब्राह्मण -6/9/10
2. ताण्ड्य ब्राह्मण -7/9/4
3. गोपथ ब्राह्मण - 1/1/2
4. ऐतरेय ब्राह्मण -7/15

गृहस्थ के लिए भौतिक और सांसारिक सुखों को स्वीकार करते हुए भी उसे सीमा बद्ध कर दिया गया था। जो ऐसा नहीं करता था,उसके लिए शुद्धि क्रिया करायी जाती थी। गृहस्थ आश्रम का मूल उद्देश्य था धर्म सन्तान और काम की उपलब्धि। फिर भी गृहस्थ के सामाजिक कर्तव्य भी थे जो उसके सामाजिक और पारिवारिक जीवन को उन्नत करते थे। "ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में कहा गया है " अष्टादंशत संतानहीन होने से बहुत दुखी था, अन्त में वृद्धावस्था में उसने दो साम देखा, फलतः उसे पुत्र की प्राप्ति हुई।"

इस प्रकार पुरूषार्थों की पूर्णता, ऋणों से मुक्ति महायज्ञों का सम्पादन पारिवारिक सौमनस्य, आध्यात्मिक सुखों की श्रेष्ठता व्यक्तिगतउत्थान,सर्वांगीण व्यक्तित्व का निर्माण , मानवीय महत्ता आदि गृहस्थ आश्रम में ही सम्भव थी। इसलिए गृहस्थ आश्रम से अनेकानेक नैतिक व्यक्तिगत, सामजिक ,धार्मिक और आर्थिक कर्तव्य सम्बद्ध किये गये, तथा उनकी उपादेयता और उपयोगिता को सिद्ध किया भी गया।

" वानप्रस्थ आश्रम, (वैखानस-आश्रम) "

गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम का प्रारम्भ माना जाता था।जब मनुष्य अपने सम्पूर्ण गार्हस्थ्य कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को सम्पन्न कर लेता था और उससे मुक्त हो जाता थी, तब वह सांसारिक मोह माया को त्यागकर

- - - - - - - - - - - -

1• ताण्ड्य ब्राह्मण -, 8/9/21

वानप्रस्थ की ओर मुड़ता था। पूर्ववर्ती समस्त स्थितियों को त्यागकरवन की ओर प्रस्थ करना ही वानप्रस्थ कहा जाता था।"ताण्ड्य ब्राह्मण" में भी "वैशाखनसों" का उल्लेख पाया जाता है।"[1]

वैदिक युगीन आरण्यक साहित्य की रचना ऐसे ही वानप्रस्थी तपस्वियों ने की थी जो अरण्य में रहा करते थे। उपनिषद् तथा ब्राह्मण युग में वानप्रस्थ जीवन का प्रसार हुआ। गृहस्थजीवन के बाद लोग बन में जाकर एकान्त का जीवन व्यतीत करते थे, और अपने ज्ञान तथाविचार की अभिवृद्धि करते थे। गौतम ने वानप्रस्थ के लिए "वैखानस" शब्द प्रयुक्त किया है।"[2] "बौधायन" का मत है कि वैखानस के शास्त्रगत नियमों का पालन करने वाले ही वानप्रस्थी हैं।[3]"मनु के मत के अनुसार "जब व्यक्ति के सिर के बाल श्वेत होने लगें,शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगे और उसके पौत्र हो जाँय, तब वह वानप्रस्थ होकर जंगल की ओर चल दें।"[4] यह उसके ऊपर निर्भर था कि वह अकेला जाये या पत्नी को साथ लेकर। फिलहाल ब्राह्मण ग्रंथो विशेषकर ताण्ड्य में इसका उदाहरण नहीं मिलता।

वास्तव में वानप्रस्थ जीवन में व्यक्ति तप,अहिंसा और ज्ञान का अर्जन करता था। उसका प्रधान उद्देश्य था आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्ति पाने का उपक्रम था। विद्या,शरीर की शुद्धि और तपस्या की वृद्धि के लिए वानप्रस्थ का सेवन किया जाता था । इस जीवन की प्राप्ति के लिए

---

1. ताण्ड्य ब्राह्मण- 14/4/7
2. "ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः"। गौतम धर्मसूत्र-3/2
3. बौधायन धर्म सूत्र -2/6/19
4. "गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।

वह संयमित और कठोर जीवन का पालन करता था। वह शीत और उष्ण को सहन करते हुए तपश्चर्या के कार्य में निमग्न रहता था।

वानप्रस्थी का जीवन अत्यन्त त्याग, साधना और तप का था। वह ब्रह्मचर्य और इन्द्रियनिग्रह के साथ-साथ सत्य और अहिंसा का अनुपालक था। इस तरह वह पचास से पचहत्तर की अवस्था तक जीवन व्यतीत करता था। दिन में दो बार स्नान करता और होम का "अनुष्ठान करना उसका पुनीत कर्तव्य माना जाता था। अतः इन्द्रिय निग्रह, जीवों के प्रति दया, सांसारिकता से विरक्ति, भिक्षा से जीविकोपार्जन आदि वान प्रस्थीयों का प्रधान कर्म था। पंच-महायज्ञ और अतिथि का सत्कार करना उसका प्रधान कर्तव्य माना जाता था।

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में कहा गया है " वैखानस लोग इन्द्र के प्रिय थे। एक बार किसी ने उन्हें मारण नामक स्थान पर मार डाला, देवताओं ने इन्द्र से कहा कि वे ऋषि कहाँ गये, तब इन्द्र उन्हें खोजने गये, परन्तु वे नहीं मिले तब इन्द्र ने समस्त विश्व को एक सीता बना डाला और उसमें वैखानस साम के गान द्वारा उन्हें खोज निकाला।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि वानप्रस्थ आश्रम मोक्ष के मार्ग का दिग्दर्शन कराता हुआ तथा मनुष्य को साधना और तपस्या की ओर प्रेरित करता था। अनुशासन और संयम का पालन उसे अत्यन्त तपःशील भी बना देता था। वह अपने पारिवारिक और भावात्मक सम्बन्धों को छोड़कर एकांत और निर्जनता का जीवन बिताता था। कठोर व्यवस्थाओं और नियमबद्ध कर्तव्यों द्वारा वह अपने

- - - - - - - - - - - - - - -

1. पंचविंश ब्राह्मण -14/4/7

चरित्र और व्यक्तित्व को तपाता था। वह धीरे-धीरे अपने को समाज तथा परिवार से दूर रखता जाता था और अन्त मेंपूर्णत: दूर हो जाता था। वह अपने पारिवारिककर्तव्यों से मुक्त होकर भी अतिथियों आदि की सेवा से सम्बन्धित समाजिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक था। परन्तु ये सामाजिक कर्तव्य उसके भावी जीवन में बाधक नहीं, बल्कि साधक थे, और वानप्रस्थियों अर्थात वैखानसों की साधना में सहायक ही होते थे।

पुन: आश्रम व्यवस्था में हमें स्त्रियों के लिए प्रयोज्यता पुरुषों केसमान नहीं थी, ऐसा विवरण मिलता है। स्त्री के लिए इसका विधान कम आवश्यक था। इसका वर्णन इसी संदर्भ में सन्यास के पश्चात ही क्रमश: किया जायेगा।

"सन्यास आश्रम"

जीवन का अन्तिम भाग था, जो पचहत्तर वर्ष की अवस्था से सौ वर्ष अथवा इसके बाद तक, सन्यास के अन्तर्गत रखा गया था। इसे ही सन्सास आश्रम कहा जाता था। वानप्रस्थ आश्रम के बाद इसकी शुरूवात होती थी। पुरूषार्थ के अंतिम लक्ष्य अर्थात मोक्ष की प्राप्ति सन्यास आश्रम के माध्यम से ही संभव थी। सन्यासी को "भिक्षु" शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। सन्यासी को "परिव्राट" और "परिव्राजक" संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। वैदिक तथा ब्राह्मण ग्रन्थांमें में उसके लिए "यति" का प्रयोग किया गया है।[2]

---

1. "येना यतिभ्यो भृगवे धनेहिते येन् प्रस्कण्व माविथ"। अथर्ववेद 2/5/5
2. ऋग्वेद - 8/3/9

सन्यास के अर्थ मे "यति" शब्द का प्रयोग ब्राह्मण साहित्य में पाया जाता है। सूत्र तथा स्मृतियों में "यति" शब्द का प्रयोग सन्यास अर्थ में पाया जाता है। सन्यास का अर्थ पूर्ण त्याग से है। ताण्डय ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है" एक वृहदगिरि इन तीनों यतियों में से थे, जिन्हें इन्द्र ने सालावृकों को दे दिया, परन्तु वह किसी प्रकार बच गया और इन्द्र को शरण में गया।"[1] इन सब उदाहरणों से लगता है कि यति लोग ऐसी जाति के थे जिन से इन्द्र को द्वेष था। इसलिए इन्द्र ने क्रुद्ध होकर "यतियों" को सालावृकों केसामने फेंक दिया था यह वर्णन पाया जाता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में "यतियों" को अस्थ मुख वाला कहा गया है।[2] वस्तुत: मोक्ष प्राप्ति के लिए सन्यास आश्रम को सहायता आवश्यक थी। मनु का कथन है कि मनुष्य तीन ऋणों देवऋण,पितृ तथा ऋषि ऋण को सम्पन्न करने के बाद ही अपने मन को मोक्ष की ओर लगाये अर्थात सन्यास ग्रहण करे।"[3] सन्यास आश्रम का मूल उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति थी। अत: मोक्ष की प्राप्ति के लिए अत्यन्त साधना और तपस्या की अपेक्षा थी। संयासी का जीवन समस्त रागद्वेष और मोहमाया से अलग पूर्णतया एकाकी था। उसे अपनी स्पृहा,इन्द्रिय, आचरण आदि पर नियंत्रण रखना अनिवार्य माना जाता था। संग्रह करने पर भी प्रतिबंध का वर्णन मिलता है।

- - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 8/1/4
2. ऐतरेय ब्राह्मण - 7/28
3. " ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षेनिवेशयेत् ।
   अनपकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यध: ।।

   मनुस्मृति -6/35

शास्त्रकारों द्वारा यह भी स्वीकार किया गया था कि सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त होने पर ही उसे ज्ञान को प्राप्ति हो सकती थी, चलते समय वह अपनी दृष्टि इधर-उधर नहीं डालता था, बल्कि वह अपने पैरों की ओर दृष्टि गड़ाकर भूमि को ओर देखता चलता था। सांसारिक आकर्षणों से विरक्त होकर वह अविक्षिप्त दृष्टि रखता था। इस लिए इसे "कौक्कुटिक भी कहा जाता था ।

इन्द्रिय निग्रह के साथ जितेन्द्रिय होना भी उसके लिए जरूरी था, जितेन्द्रिय होकर ही वह नियम और सच्चरित्रता का पालन कर सकता था। उसे ब्रह्म के ध्यान में लीन रहने, मांस की अभिलाषा से मुक्त, अकेला, मोक्षसुख को ही चाहने वाला बताया गया है। "ताण्डय ब्राह्मण"[1] में एक उल्लेख मिलता है " कि इन्द्र ने एक बार यतियों को सालावृकों को दे दिया, उनमें से तीन यति पृथुरश्मि, रायोवाज और वृहद्गिरि किसी प्रकार बच गये, इन यतियों ने कहा कि कौन हमारी पुत्रवत रक्षा करेगा, इन्द्र ने कहा मै करूँगा। इन्द्र इन्हें अपने कन्धे पर रखकर इनकी परिचर्या करते हुए घूमते रहे । एक दिन इन्द्र ने कहा कि पुत्रों बर माँगों , उन्होंने क्रमशः ब्रह्मवर्चस , क्षत्र और पशु (वैश्य) बनने की आकांक्षा की, इन्द्र ने उन्हें मनोवांछित फल दे दिया।"

परन्तु 'यति' सम्बन्धी उल्लेखों पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि "यति" सन्यासी नहीं वरन् अनार्य जाति है जो कि आर्य सभ्यता के संरक्षक इन्द्र की विरोधी थी। शरण में आने पर "इन्हें इन्द्र ने आर्यों में मिला लिया।"[2]

- - - - - - - - - -

1• पंचविंश ब्राह्मण - 13/4/17

2• हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र- भाग दो -पी0वी0काणे

इस तरह हम देखते हैं कि सन्यासी का जीवन अत्यन्त तपस्या और कठोरता का था, परम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए वह अपने शरीर और मन को दृढतापूर्वक तपाता था। प्रवृत्यों से पूर्णत: उदासीन होकर निवृत्ति मार्ग को अनुगमन करता था। समस्त भौतिक और सांसारिक पदार्थों के प्रति अनासक्त होकर वह मनोनिवेशपूर्वक अपनेउद्देश्य मोक्ष प्राप्ति के लिए साधनारत रहता था। ब्रह्म के प्रति पूर्ण आस्थावान होकर वह निवृत्तिनियमों का अनुसरण करता था। आत्म ज्ञान और परम पद कोप्राप्ति के लिए वह संयम पूर्वक संलग्न रहता था। इसके साथ ही साथ समाज के लोग उसके अनुशास्नात्मक अध्यात्म और संयस्त जीवन से आलोकित होते थे, तथा भविष्य के लिए शिक्षा एवं प्रेरणा पाते थे।

"आश्रमवव्यवस्था और स्त्री"

जिस प्रकार पुरूष के लिए आश्रम व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक और प्रयोजनीय थी, उस प्रकार स्त्री के लिए नहीं थी। स्त्री के लिए आश्रम व्यवस्था का विधान कम जरूरी था। पूर्व वैदिक युग के बाद से उसका ब्रह्मचर्य का जीवन भी विधानकम जरूरी था। पूर्ववैदिक युग के बाद से उसका ब्रह्मचर्य का जेवन भी आबद्ध हो गया था। गृहस्थ जीवन के अतिरिक्त वानप्रस्थ और सन्यास का जीवन भी बन्धनग्रस्त था। यद्यपि आश्रमों के कर्तव्य-निर्वाह में पुरूष के साथ उसका समुचित सहयोग था, फिर भी स्त्री अनेक अधिकार से वंचित कर दी गयी थी। साथ-साथ अनेक प्रतिबंधों से बाँध दी गई। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

ब्रह्मचर्य- पुरुषों जैसा ब्रह्मचर्य जीवन स्त्री का नहीं था। वह पूर्ण रूप से गृह में रहकर गृहस्थ बनने को आशा रखती थी तथा समाज भी उससे यही अपेक्षा करता था। वैदिक युग में ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए निर्दिष्ट किया गया था।"[1] जो कन्या आजीवन शिक्षा ग्रहण करने में लगी रहती थी, तथा विवाह जैसे सामाजिक बंधन में नहीं फँसती थी, वह "ब्रह्मवादिनी" कही जाती थी।"[2] कुशध्वज को कन्या वेदवती इसी प्रकार की ही थी, जिसने आजीवन विवाह नहीं किया था।

"गृहस्थ आश्रम"- स्त्री के सहयोग से ही गृहस्थ आश्रम का प्रारम्भ होता था, बिना उसके सहयोग एवं सहायता के गृहस्थ का जीवन प्रयोजनहीन और उद्देश्यहीन था। स्त्री के लिए विवाह अनिवार्य था। मनु के अनुसार "प्रजननार्थ ही स्त्री को सृष्टि हुई थी।"[3] वह गृह- साम्राज्ञी भी कही गयी थी।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्त्री के लिए गृहस्थ का जीवन व्यतीत करना तथा गार्हस्थ्य उत्तरदायित्वों को निभाना जरूरी था। वह कुटुम्ब के सभी सदस्यों के साथ स्नेहशील और आदरयुक्त व्यवहार करती तथा अपना सहयोग प्रदान करती थी।

"वानप्रस्थ आश्रम"- गृहस्त आश्रम को समाप्ति के बाद वह अपनी इच्छा के अनुसार अपने पति के साथ वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकती थी। निश्चित रूप से यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता था कि वह वानप्रस्थ आश्रम में अपने पति के साथ रहे या गृहस्थ आश्रम में ही अपने पुत्रों तथा परिवारजनों के साथ रहे या गृहस्थ आश्रम में ही अपनेशेष जीवन को व्यतीत करें। वैदिक युग में अनेकानेक स्त्रियाँ

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अथर्ववेद - 11/5/18
2. शतपथ ब्राह्मण -3/24/6
3. "प्रजनार्थीस्त्रियः सृष्टः" -मनुस्मृति 9/96
4. अथर्ववेद -14/1/43

अपना जीवन तपस्या और साधना में भी व्यतीत करती थी। वे बन अथवा निर्जन स्थान में ध्यान मग्न होकर तपश्चर्या करती थी। वे परमब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयास करती थी। अरुन्धती, माधवी, मृत्युदेवी, अत्रिभार्या, सुलभा आदि ऐसी ही स्त्रियाँ थीं जिन्होंने कठिन तपश्चर्या की थी।

<u>"सन्यासआश्रम" -</u> फिर भी दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि स्त्रियों के प्रव्रज्या ग्रहण करने के विषय में प्रायः सभी बुद्धि जीवी विरुद्ध ही रहे है, क्योंकि प्रव्रज्या ग्रहण करने से समाज और धर्म में अनेक समस्याओं का उठ खड़ा होना स्वाभाविक था। नारी न तो अपनी सुरक्षा करने में समर्थ थी नहीं धर्म की, प्रत्युत नैतिक आदर्शों से च्युत होने की ही उससे आशंका थी। शायद इसलिए "बुद्ध" नारी के प्रव्रज्या ग्रहण करने के विरुद्ध थे।

बौद्धयुग में तो युवतियाँ भी भिक्षुणियाँ बनने लगी, जिससे नैतिक पतन प्रारम्भ हो गया, उनके लिए एकान्त में रहना भी कठिन हो गया। शीलभंग के ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।[1] कुल मिलाकर इन्हीं समस्याओं की आशंका से हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री के लिए सन्यास का जीवन स्वीकार नहीं किया तथा उन्हें पति और पुत्र द्वारा रक्षित माना और परिवार के वरिष्ठ सदस्य के संरक्षण में रहने को निर्देश किया है।

- - - - - - - - - - - -

1. विनयपिटक - पृष्ठ 537/540

" संस्कार "

"संस्कार" शब्द की व्युत्पत्ति सम् उपसर्गपूर्वक कृ (करना) धातु में घञ् प्रत्यय तथा सट के आगम से होती है। जिसका अर्थ है "परिष्कार", मनोभाव या स्वभाव का शोधन। जिसप्रकार एक स्वर्णकार किसी हेमपिण्ड को अग्नि में तपा कर मनोवांछित आभूषण निर्मित कर लेता है, उसी प्रकार बालक को पूर्वजन्म एवं वंशानुक्रम से प्राप्त दुर्गुणों को निकालकर उसमें सद्गुण डालने के प्रयत्न को वैदिक विचारधारा में संस्कार कहा गया है। पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर उनके स्थान पर सद्गुणों को आधान करना ही संस्कार है।"[1]

आज हम वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा अन्यान्य साधनों के द्वारा देश समाज को उन्नति एवं समृद्धि के शिखर पर पहुंचाने की योजनाएँ बनाते हैं। उन्हें क्रियान्वित भी करते हैं, परन्तु उनसे अभीप्सित लाभ नहीं उठा पाते। कारण स्पष्ट है कि जिस समाज में व्यक्तियों को अमर [illegible] उठाने की योजनाएँ बनती हैं, उसके अथवा केन्द्रभूत मानव के वैयक्तिक शारीरिक तथा मानसिक विकास की ओर ध्यान नहीं दे पाते। शारीरिक रूप से दुर्बल और मानसिक रूप से असमर्थ व्यक्ति किसी भी वस्तु का सच्चा उपभोग नहीं कर सकता।

वैदिक मनीषियों ने इस तथ्य को समझा, समाज को ऐश्वर्य से नहीं उसे शारीरिक एवं मानसिक रूप से उत्कृष्टतर व्यक्ति सौंपकर परिवर्तित करने का स्वप्न देखा और संस्कार पद्धति को जन्म दिया। देखना यह है कि क्या उनकी योजना में कोई वैज्ञानिक पुष्टि भूमि अन्तर्निहित थी, अथवा उन्होंने मात्र आशा का सतरंगी धनुष उरेहा था।

- - - - - - - - - - - - - -

1. "संस्कारों के लिए ..." [illegible]

मानव का निर्माण होता है- रजवीर्य से जिन संस्कारों से माता-पिता का रजवीर्य होगा, उन्हीं संस्कारों की सन्तान होगी, फिर उसे बदला कैसे जा सकता है। इस पर वैज्ञानिकों के मत है, माल्टन, जिमैन प्रभृति विचारकों का कहना है "प्राणी जो कुछ है, वह वंशानुक्रम का ही परिणाम है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। इसके विपरीत नेफारव आदि का विचार है "वंशानुक्रम को भी इच्छित पर्यावरण द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है। गोविंद खुराना का यहाँ तक कहना है कि किसी विशेष के "जीन्स" को प्रजनन तत्व में से निकालकर अभीप्सितगुण के "जीन्स" को आरोपित करके मनचाहे गुण वाली सन्तान उत्पन्न की जा सकती है, आगामी काल में वह दिन अब दूर नहीं, जब आवश्यकतानुसार सुकरात, अरस्तु, न्यूटन आइस्टीन तथा शेक्सपीयर पैदा किये जा सकते हैं।

प्राचीन मनीषियों ने संस्कार व्यवस्था के माध्यम से प्रत्येक पचीस वर्षों में समाज को शारीरिक एवं मानसिक रूप से उत्कृष्टतर नागरिक सुलभ कराने की योजना बनायी थी।

वस्तुतः संस्कारों का सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से है। संस्कार गर्भ में आने से लेकर मृत्युपर्यन्त जीवित रहने, यशस्वी बनने, विद्वान, ब्रह्मवेत्ता बनने संसार में विषयोपभोग करने, चिन्तन करने तथा सबसे अन्त में इस संसार में विषयोपभोग करने, के पश्चात इससंसार से प्रस्थान करने की वासनामय मध्यविन्दु के चारों ओर घूमने वाली घटनाओं की निरन्तर श्रृंखला है। महाभारत कार के अनुसार प्रारम्भिक संस्कारों की उपयोगिता इस दृष्टि से तो थी ही कि जन्म लेते से समय जो शील स्वभाव बन जाता है, वह जीवन भर बना रहता है।"[1]

---

1. महाभारत बनपर्व - 8/11

गौतमाचार्य के विचार से एक बालक उपनयन संस्कार के पूर्व स्वेच्छा से वार्तालाप करता है। भाष्कार हरदत्त ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए समझाया है कि इतना यह तात्पर्य नहीं कि वह ब्राह्मण की हत्या कर सकता है, अथवा शराब पी सकता है। वरन् उसके लिए उन नियमों का बन्धन नहीं होता है, जैसे वह दिन में कई बार भोजन कर सकता है, जिनमें वह पाया जाता हो।

संस्कारों का मानव के जीवन से सम्बन्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका उद्देश्य व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना था। सन्तान के प्रति पिता का जो कर्तव्य होता है, उसके प्रति ब्राह्मण कालीन पिता जागरूक था। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक के समस्त संस्कारों की विधियों पर ध्यान से विदित होता है कि उनका उद्देश्य वाह्य उपद्रवों, व्यभिचारों इत्यादि से व्यक्ति की रक्षा करना था। भारतीय विचारधारा के अनुसार पग-पग पर देवता हमारी रक्षा करते हैं। जीवन का प्रत्येक काल एक देवता की संरक्षा में व्यतीत होता था। यही कारण था कि दुष्प्रभावों को दूर करके शुभ प्रभाव दिखलायी जाती है जैसे-गर्भाधान संस्कार पर विष्णु,अश्विन आदि से प्रार्थनाएँ की गयी है।

ब्राह्मण काल मे संस्कारों का एक सांस्कृतिक प्रयोजन भी था। "उपनयन" जैसे महत्वपूर्ण संस्कार सेसुसंस्कृत होकर व्यक्ति सामाजिक अधिकारों को पाने का अधिकारी होता था, एवं "द्विज" कहलाता था। "संस्कार से हीन व्यक्ति" "व्रात्य" कहलाता था।[1] यद्यपि संस्कार वाह्यस्वरूप से व्यवहारिक प्रतीत होते है, परन्तु इनका मुख्य प्रयोजन आध्यात्मिक है। संस्कारों द्वारा संस्कृत व्यक्ति

- - - - - - - - - - - -

1. महाभारत वनपर्व -8/11 ; ताण्ड्य ब्राह्मण -17/1-4

दिव्य प्रभावों से युक्त हो जाता था। मनु ने व्यक्ति के तीन जन्म माने है- प्रथम माता के गर्भ से उत्पन्न होते समय, दूसरा जन्म मौंजी बन्धन के समय तथा तीसरा जन्म यज्ञ के अवसर पर दीक्षित होते समय माना है।

ब्राह्मण साहित्य में अनेक संकेत मिलते हैं कि यज्ञ के प्रारम्भ में जो दीक्षा ली जाती थी, इससे यजमान दिव्य प्रभाव से युक्त हो जाता था। इस प्रकार वह यज्ञ के योग्य हो जाता था। वाह्य पापात्माएँ राक्षसादि उसका अनिष्ट नहीं कर सकते थे। यज्ञ की समाप्ति पर दीक्षित स्नान करता था, जिसकी द्वारा वह अपने को दिव्य प्रभावों से मुक्त करता था। ऐसा करने से वह भौतिक जगत के योग्य हो जाता था।"

संस्कार मुख्यत: गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों का वर्ण्य विषय है। गृह्यसूत्रों में भी "संस्कार" शब्द का प्रयोग अपने वास्तविक अर्थ से उपलब्ध नहीं होता है। गृह्यसूत्रों में साधारणत: विवाह से लेकर समावर्तन पर्यन्त दैहिक संस्कारों का वर्णन किया गया है। "आश्वलायन" गृह्यसूत्र" में विवाह, 'गर्भाधान', 'पुंसवन' 'सीमान्तोन्नयन,' 'जातकर्म,' 'नामकरण,' 'चूड़ाकरण,' 'अन्नप्राशन,' 'उपनयन', 'समावर्तन' एवं 'अन्त्येष्टि' इन ग्यारह संस्कारों का वर्णन मिलता है। गौतम धर्म सूत्र में चालीस संस्कारों का उल्लेख आया है जो इस प्रकार है-1. गर्भाधान 2.पुंसवन 3.'सीमन्तोन्नयन' 4. 'जातकर्म' 5. 'नामकरण' 6. 'अन्नप्रशन' 7. 'चौल', 8.उपनयन' 9.' स्नान' इत्यादि है।

"मनुस्मृति[1] में कहा गया है गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त निम्न तेरह स्मार्त या यथार्थ संस्कार होते हैं- 1• गर्भाधान 2•पुंसवन 3• सीमान्तोन्नयन 4• जातकर्म 5• नामधेय 6• निष्क्रमण 7•अन्नप्राशन 8• चूड़ाकर्म 9•उपनयन 10 वेदान्त 11•समावर्तन 12• विवाह 13• श्मशान। "पंचविंश" ब्राह्मण में आया है[2] कि यह एक खानाबदोश जाति के समान प्रतीत होता है। परन्तु अन्यत्र तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्पष्टतः उसे शास्त्रीय संस्कारों से विहीन व्यक्ति माना गया है। ब्राह्मण साहित्य में उपलब्ध संकेतों से यह विदित होता है कि "व्रात्यस्तोम" एक ऐसा विशिष्ट यज्ञ था, जिसको करके असंस्कृत , व्रात्य पुनः शुद्ध होते थे।

ब्राह्मण साहित्य में संकेत मिलता है कि जन्म से पूर्व ही गर्भाधान, पुंसवन, इत्यादि संस्कार किये जाते थे। उत्पन्न बालक पर तो अनेकों संस्कारों का विधान है। यहाँ पर उपलब्ध संकेतों के अनुसार तत्कालीन प्रचलित संस्कारों पर विचार करेंगे। उक्त संक्षेप विवेचन के बाद संस्करों का विवेचन किया जायेगा, क्योंकि शोध का मुख्य विषय वस्तु सांस्कृतिक अध्ययन ही है,जो निम्नवत है-

गर्भाधान संस्कार

प्रकृतिलभ्य मूल प्रवृत्ति काम की पूर्ति हेतु स्त्री-पुरुष के समागम सर्वथा स्वाभाविक और नितान्त वैयक्तिक व्यवहार है, परन्तु स्त्री पुरुष का मिलन काम-क्रीड़ा मात्र नहीं है। इसके परिणाम स्वरूप एक शिशु का जन्म भी होता है। जो आगे चलकर समाज का कर्णधार बनता है। यदि वह योग्य हुआ तो समाज को

- - - - - - - - - - - -

1• मनुस्मृति - 2/6/6

2• पंचविंश - 17/1-4

एक नयी दिशा देगा, इसके विपरीत यदि अयोग्य हुआ तो समाज के लिए अभिशाप होगा। इस प्रकार सन्तानोत्पत्ति के बाद जिन समस्याओं का सामना करना अवश्यम्भावी था, उनका बीज पड़ने के समय ही प्राचीन विचारक उन्हें हल कर लेना चाहते थे। यही कारण है कि उन्होंने गर्भाधान को वैयक्तिक क्रिया न मानकर सामाजिक तथा धार्मिक पवित्र संस्कार बना दिया था। गर्भाधान के समय शरीर तथा अवस्था का सन्तान पर गहरा प्रभाव पड़ता है।यह मनोवैज्ञानिक तथ्य ही इस संस्कार का मूल है। "अभिमन्यु" अष्टावक्र, नेपोलियन आदि की जीवन गाथाओं से उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। आचार्य सुश्रुत का कहना है "जिस प्रकार "ऋतु" क्षेत्र" अम्बुष और "बीज" इन चारों के विधिपूर्वक मिलने से अंकुर पैदा होता है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के विधिपूर्वक संयोग से संतान का जन्म होता है।

"मनुस्मृति" में कहा गया है कि युग्म रात्रियों में जैसे 6वीं,8वीं वीं इत्यादि के गर्भाधान से पुत्र और "अयुग्म" रात्रियों 5 वीं, नवीं, आदि में गर्भाधान करने से पुत्री उत्पन्न होती है अथवा अधिक वीर्य होने से पुत्र और अधिक रज होने से कन्या होती है। हाँ इन विचारों को सर्वथा वैज्ञानिक समर्थन तो नहीं दिया जा सकता है, परन्तु संस्कार को धार्मिक रूप देने में यह मान्यता पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

"ब्राह्मण काल में गर्भाधान के समय पात्र एवं काल का विशेष विचार रखा जाता था। योनि के अतिरिक्त स्थान पर वीर्य सिंचन पाप माना जाता था। योनि के अतिरिक्त स्थान पर वीर्य सिंचन पाप करने वाले को प्रायश्चित करना पड़ता था। परन्तु स्त्री गमन का भी ब्राह्मण साहित्य में दृढ़तापूर्वक

निषेध किया गया है। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार पुत्र सम्बन्धी इच्छा होने पर लोग अत्रि; चतुरात्र, अहीन् याग का अनुष्ठान करते थे।[1] गुरुपत्नी के साथ समागम अत्यन्त निकृष्ट माना गया है।[2] मनु ने इसको स्पष्ट निर्दिष्ट किया है कि ऋतुकाल में भी मास की कुछ तिथियाँ गर्भाधान के लिए निषिद्ध थीं। 8वीं, 14वी, 15वी, एवं 30 वीं और सम्पूर्ण पर्व विशेषतया छोड़ दिये गये हैं। इस प्रकार अकाल गमन करने वाले की निन्दा की जाती, एवं वह प्रायश्चित का भागी होता था।[3]

<u>पुंसवन</u> - पुंसवन संस्कार के दो अर्थ हैं- एक तो यह कि जो संतान हो, वह पुत्र ही हो, कन्या न हो, दूसरा अर्थ है कि संतान पुरुषत्व (सामर्थ्य) युक्त हो चाहे वह पुत्र हो या पुत्री। वैदिक संस्कृति में पुत्र-पुत्री की सामाजिक स्थिति में कोई भेद नही था, तथा गर्भ में आ जाने के बाद इच्छानुसार पुत्र या पुत्री को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए पुंसवन का अर्थ "पौरुषयुक्त सन्तान" करना ही युक्त है।

यह संस्कार गर्भाधान के दूसरे-तीसरे महीने में गर्भ धारण का निश्चय हो जाने के बाद किया जाता है। इस प्रकार के संस्कार के प्रमुख कृत्य हैं-माता की असावधानी से गर्भपात को रोकने के लिए तथा समुचित विकास के लिए गर्भिणी के दक्षिणी नासापुट में वट वृक्ष की छाल या उसकी पत्ती का रस सुंघाना तथा कुछ अन्य पुष्ट गडूच, जो ब्राह्मी औषधि है।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. सामविधान ब्राह्मण -1/7/1।
2. जैमिनीय - 2/28।
3. सामविधान - 1/6/1/2

"सीमन्तोन्नयन संस्कार"

हिन्दू शास्त्रकारों के अनुसार यह संस्कार गर्भ के चौथे महीने में आयोजित किया जाता था। इसे इस तरह "चतुर्थ मासे सीमन्तोन्नयनम्" स्पष्ट किया जाता था। इसे सीमन्तोन्नयन संस्कार इसलिए कहा गया कि इसको सम्पन्नता में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर (उन्नयन) उठाया जाता था। ऐसा विश्वास था कि जब स्त्री गर्भिणी होती थी, तब उस पर बहुत विघ्न बाधाएँ आती हैं। जो उसे डराकर गर्भ का विनाश कर देती है। इसी की रक्षार्थ सीमन्तोन्नयन कियागया। इस संस्कार में पति अपने हाथ से पत्नी के केशों में सुगंधित तेल डालता है और संवारता है। आयुर्वेद में इसे 6ठवें अथवा 8 वें महीने में भी किया जा सकता है।

"कुल मिलाकर इसका मूलमंत्र तो यह है कि जितना अधिक माँ के मानसिक विकास पर ध्यान दियाजायेगा उतने ही बच्चे का मानसिक विकास होगा।[1] इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन गर्भिणी स्त्री को यथा संभव प्रसन्न एवं उल्लखित रखता था। इन तीनों ही जन्म से पूर्व के संस्कार गर्भ क्षेत्र की शुद्धि के लिए किये जाते थे एवं प्रथम गर्भ के धारण काल में किये जाते थे। फिर भी वर्तमान में इन तीनों का लोप हो गया है।

---

1. "यादृशं भजन्ते नारी सुतं सूते तथा विधम् ।
   तस्मात् प्रजा विशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः ।।"

   "मनुस्मृति "

जातकर्म संस्कार -

पुत्र जन्म के समय जातकर्म संस्कार किया जाता था। मनु के अनुसार नाभिछेदन के पहले यह संस्कार सम्पन्न किया था। जन्म के पहले वच्चा माँ के उदर में पानी से भरी एक थैली में होता है। उस थैलो का मलिन जल मुँह में, नाक में, तथा कान में न चला जाय, इसलिए प्रकृति इसके ये सब श्लेष्मा से बन्द किये रहता है। साथ ही थैलो के जल के बुरे प्रभाव से बचने के लिए त्वचा पर एक स्निग्ध लेप लगा होता है। पेट में बच्चे का पूरा-पूरा पोषण नाभि द्वारा माता से सीधा पहुँचता है। परन्तु जन्म के बाद यह सम्पर्क टूट जाता है। माता से पोषण तत्व अनायास प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए शिशु जन्म होते ही शिशु का मुख और नासिका साफ की जाती है ताकि वह दूध पी सके और सांस ले सके। स्निग्ध लेप को हटाने के लिए स्नान कराया जाता है। अलबीरूनी ने कहा है- "पत्नो के द्वारा पुत्र प्रसव करने के बाद और माँ द्वारा उसका पोषण प्रारम्भ करने के बाद "जातकर्म" नामक तीसरा संस्कार किया जाता है।"

कहीं-कहीं यह भी कहा गया है कि संस्कार करने के पहले स्नान अवश्य करना चाहिए। अलबीरूनो के अनुसार "पत्नी द्वारापुत्र प्रसव करने के बाद और माँ द्वारा उसका पोषणप्रारम्भ करने के बीच "जातकर्म" नामक संस्कार किया जाता था। ब्राह्मणों में भी इसका विधान पाया जाता है।

नामकरण संस्कार

हिन्दू समाज में संतान को नाम प्रदान करना भी एक संस्कार माना गया है। संज्ञा के अभाव में कोई व्यवहार ही नहीं चल सकता, इसलिए नामकरण जरूरी ही नहीं, एक अपरिहार्य प्रक्रिया है। मनु के अनुसार, दसवें या बारहवें दिन शुभ दिन, तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त में नामकरण संस्कार का आयोजन करना चाहिए। इसे संस्कारों में रखने का उद्देश्य यह है, कि माता-पिता ने शिशु जन्म से पूर्व उसे जो-जो बनाने की कल्पनाएँ की हों, उसी के अनुरूप एक नाम दे सकें।

बार-बार उच्चरित शब्दों का मन और शरीर पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए आने-जाने वाले सभी व्यक्ति उस नवागत प्राणी को जब नाम से पुकारेंगे तो उसके हृदय तथा मस्तिष्क को उस नाम के अर्थ के अनुकूल रूप में प्रभावित कर रहे होंगे। कुल मिलाकर अगर देखा जाय तो यही इस संस्कार की मूल भावना है। नाम उच्चभावना को जागृत करने वाला होना चाहिए। चूँकि माता दस दिनतक प्रसूतिका गृह में रहती है, इसलिए इस संस्कार का समय जन्म के बाद ग्यारहवां दिन बतलाया गया है। मनु के अनुसार "स्त्रियों का नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, अक्रूर तथा स्पष्ट अर्थ वाला मनोहर, मंगल सूचक, अन्त में दीर्घ अक्षरवाला और आशीर्वाद से युक्त अर्थवाला होना चाहिए।"[1]

---

1. स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
   मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ।। -"मनुस्मृति -2/33"

ब्राह्मण साहित्य में पदार्थों तथा व्यक्तियोंका नाम बहुतायत से मिलता है, ये नाम पैतृक, मातृक, और लौकिक सभी प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए काक्षीवन्त औशिज इसमें प्रथम लौकिक नाम है और दूसरा माता के नाम "उशिज" से उत्पन्न हुआ है।"[1] इसके अतिरिक्त गृह्यसूत्रों स्मृतियों आदि में नामकरण का वर्णन किया गया है। बृहस्पति ने कहा है "शिशु का नामकरण जन्म से दसवें दिन, बारहवे, तेरहवे, सोलहे, उन्नीसवें अथवा बत्तीसवें दिन सम्पन्न करने का विधान है।

"ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार" - देश काल नदी इत्यादि के नाम पर भी व्यक्तियों के नाम रखे जाते थे, जैसे "कौशम्बेय" "वैदेह" पांचाल[2] कौरव इत्यादि हैं। पुत्रियों के नाम के अन्त में "आ" "दा" लगता था जैसे-वसुदा, यशोदा, नर्मदा, पुष्पा आदि। नदियों और नक्षत्रों के नाम पर भी पुत्रियों के नाम रखे जाते थे।

"निष्क्रमणसंस्कार"

निष्क्रमण का अर्थ है-बाहर निकलना। जन्म से एक निश्चित अवधि के बाद जब संतान को पहली बार घर से बाहर निकला जाता था, तब वह निष्क्रमण कहा जाता था। शरीर तथा मन के समुचित विकास में शुद्ध वायु और सूर्यका प्रकाश जितना आवश्यक है, उतना कुछ अन्य नहीं। सूर्य की रश्मियों से विटामिन डी की प्राप्ति द्वारा बच्चे में कैल्सियम तथा फासफोरस को समाहित करने के उद्देश्य से निष्क्रमण को संस्कारों के अन्तर्गत रखा गया। इसका समय दूसरा या चौथा माह अच्छा होता है।

---

1. ताण्ड्यमहाब्राह्मण- 14/11/17

"अन्न प्रशान"

अन्न प्राशन का अर्थ है- जीवन में सर्वप्रथम अन्न को खाना। पाँचवे माह के बाद शिशु अन्न खाने लायक हो जाता है। इस संस्कार के पूर्व तक शिशु माँ और गाय के दूध पर पलता है। जब माँको दूध कम होने लगा है तो पौष्टिक आहार की जरूरत होती है, अत: अन्न प्राशन संस्कार द्वारा बच्चे को सर्वप्रथम भोजन ग्रहण कराया जाता है।

"मुण्डन संस्कार"

इसे चौल या चूड़ाकरण संस्कार भी कहा जाता है। शिशु का बाल जब सर्व प्रथम काटने का आयोजन किया जाता था, तब इस संस्कार को सम्पन्न किया जाता था। वास्तव में "चूड़ा" का अर्थ है चुंडी अर्थात शिखा। इसमें शिखा को छोड़कर गर्भकाल के सिर के सभी बाल और नख काट दिये जाते थे। ऐसा माना जाता रहा है कि चूड़ाकरण से दीर्घायु तथा कल्याण की उपलब्धि होती है। अगर इसे सम्पन्न न किया जाय तो आयु घटती है। "मनु के अनुसार सभी द्विजाती बालकों का मुंडन संस्कार वेद और धर्मसम्मत रूप में पहले या तीसरे वर्ष में कराया जाता था।"[1]

हिन्दू समाज में आज भी मुंडन संस्कार का आयोजन बहुत ही लगन और प्रसन्नतापूर्वक किया जाता है तथा ब्राह्मणों और निर्धनों को भोजन कराया जाता है तथा दान दिया जाता है। इस संस्कार को आयोजित करने के मूल में सम्भवत: शरीर की स्वच्छता और पवित्रता से बालक का परिचय कराना था, ताकि वह भविष्य में अपने शरीर को स्वच्छ रख सके। यही विवरण ब्राह्मणों में भी कहीं-कहीं पाया जाता है।

"कर्णभेदन संस्कार"

इसे कर्ण छेदन संस्कार भी कहा जाता है। यह संतान के जन्म के सातवें महीने आयोजित किया जाता था। कभी कभी तीसरे या पाँचवे माह में आयोजित करने का विधान पाया जाता है। यह व्यवस्था वैदिक कालीन है।[1] इस संस्कार को कब किया जाय, इस सम्बन्ध में विभिन्नमत पाये जाते हैं। अलबीरूनी ने लिखा है " सातवें या आठवें माह में कर्णभेद संस्कार होता है।"[2]

" विद्यारम्भ संस्कार "

सन्तान की अवस्था जब पाँच वर्ष की हो जाती थी, तब उसे शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाती थी।पहले पहल बच्चे द्वारा वर्ण और अक्षर को सीखा और पढ़ा जाना विद्यारम्भ संस्कार कहा जाता था। यह संस्कारप्राय: चौल संस्कार के बाद ही किया जाता था, यह संस्कार सन्तान के जन्म के पाँचवें अथवा उपनयन संस्कार के पूर्व सम्पादित कियाजाता था । शुभ मुहूर्त में शिक्षक द्वारा पट्टी पर "ओम" "स्वस्तिक" के साथ वर्णमाला लिखकर बालक को अक्षर-आरम्भ कराया जाता था।

" उपनयन संस्कार"

उपनयन का अर्थ है -गुरू के समीप ले जाना। इस प्रकार यह संस्कार शिक्षा के मन्दिर में प्रवेश करने का द्वार है। इसका मुख्य कृत्य है - यज्ञो पवीत धारण करना जिसमें तीन-तीन धागे होते हैं जो क्रमश: ऋषि ऋण, पितृऋण, और देवऋण के सूचक है। यह इतनी महत्वपूर्ण संस्कार है कि इसी के बाद. द्विज संज्ञा मिलती है।

---

1. अथर्ववेद - 6

2. ग्यारहवीं सदी का भारत -पृष्ठ 224

मनुस्मृति में कहा गया है कि व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है, संस्कारों से द्विज बनता है।[1]

जिनका यह संस्कार नहीं होता था, वे "पतित माने जाते थे,ब्राह्मणों में कहा गया है कि जिस दिन बालक का "उपनयन" होता है, उससे तीन दिन पहले से अथवा एक दिन पहले से उसे व्रत रखना होता है। "पंचविंश ब्राह्मण"[2] में कहा गया है- "उस काल में संस्कारों का एक सांस्कृतिक प्रयोजन भी था ।उपनयन जैसे महत्वपूर्ण संस्कारों का एक सांस्कृतिक प्रयोजन भी था। उपनयन जैसे महत्वपूर्ण संस्कार से सुसंस्कृत होकर व्यक्ति सामाजिक अधिकारों को पाने का अधिकारी होता था, एवं वह द्विज कहलाता था तथा संस्कार से हीन व्यक्ति,व्रात्य कहलाता था।"

ताण्ड्य ब्राह्मण में जो उल्लेख आया है कि जिस व्यक्ति का उपन न नामक संस्कार नहीं किया जता था, वे "व्रात्य" होते थे, इसके लिए संस्कार का विधान इस ब्राह्मण ग्रंथ के अन्तर्गत भी देखने को मिलता है। इसके साथ अन्य ब्राह्मणों में भी यह विधान पाया जाता है।"उपनयन" के लिए "यज्ञोपवीत" शब्द का भी विवरण मिलता है जिसका अर्थ है - यज्ञ का उपवीत। "गौतम"और "मनु" ने ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य बालक का 12 वें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार को करने का विधान बताया है।"[3]

---

1. "जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विजमुच्यते" - मनुस्मृति
2. पंचाविंशब्राह्मण - 17/1-4
3. गौतम धर्मसूत्र -1/6/12; मनुस्मृति -2/36

इस संस्कार के अन्तर्गत बालक को स्नान कराकर कौपोन{लँगोटी}
धारण करने के लिए दी जाती थी। स्नान से उसका मन और शरीर शुद्ध होता
था। आचार्य उसके कटि के चारों ओर मेखला बाँधता था, तथा उसे उपवीतधारण
करने के लिए दिया जाता था। यह सारी क्रिया धर्मशास्त्रीय आधार पर मन्त्रों
से सम्पन्न की जाती थीं। उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था। जो विद्यार्थी
को कर्तव्य परायणता का प्रतीक होता था। ब्राह्मणों में उदाहरण मिलता है
"कि व्रात्य आर्येतर जातियाँ है।"[1] इससे स्पष्ट है कि संस्कारों से हीन व्यक्ति
भी "व्रात्यों" की श्रेणी में आ जाते थे, वह व्रात्य संस्कार को सम्पन्न कराने के
बाद ही शामिल किये जाते थे।

"समावर्तन संस्कार"

शिक्षा की समाप्ति के बाद जब ब्रह्मचारी अपने गृह की ओर प्रस्थान
करता था, तब यह संस्कार सम्पादित किया जाता था। इस संस्कार को सम्पादित
करने के लिए कोई निश्चित आयु, निर्धारित नहीं की गयी थी, अर्थात इसकी
अवधि तभी मानी जाती थी, जब कि ब्रह्मचारी वेद का अध्ययन पूर्ण कर लेता था,
इस संस्कार का शाब्दिक अर्थ है- गुरुकुल से शिक्षा ग्रहण करने के बाद घर लौटना।
प्राचीनकाल में जब विद्यार्थी गुरू के निकट रहकर अपनी शिक्षा पूर्ण कर लेता था,
तब उसका यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था, यह संस्कार विद्यार्थी की शिक्षा
की पूर्णता का प्रतीक था।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. पंचविंश ब्राह्मण -17/1-4

विद्यार्थी अपने आचार्य का आशीर्वाद और अनुमति प्राप्त करके घर की ओर लौटता था। यह सम्पूर्ण समारोह समावर्तन संस्कार कहा जाता था।

"विवाह संस्कार"

यह संस्कार समस्त संस्कारों में महत्वपूर्ण माना गया है।क्योंकि इससे व्यक्ति की नई सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति की शुरूवात होती है। व्यक्ति का गृहस्थ आश्रम में प्रवेश इसी संस्कार से होता है। इससे मनुष्य सामाजिक हो जाता है तथा उसकी वैयक्तिक स्थिति समाप्त हो जाती है। परिवार तथा समाज के प्रति उसके नये दायित्व प्रारम्भ हो जाते हैं। वैदिक काल तथा ब्राह्मणकाल में विवाह की अनुपम महत्ता दी जाती थी भी। वास्तव में इसके अभाव में व्यक्ति निस्तेज माना जाता था।

विवाह के अन्तर्गत वर -वधू को विभिन्न योग्यताएँ और गुणगोत्र और वर्णादि पर विचार किया जाता था। विवाह क्रिया की सम्पन्नता के समय वाग्दान , वर वरण, कन्यादान, विवाह होम, पाणिग्रहण हृदयस्पर्श ,ध्रुवावलोकन ध्रुव दर्शन आदि का विधान किया गया था। ब्राह्मणों में भी विवाह सम्बन्धी विधान पाया जाता है। "पंचविंश ब्राह्मण"[1] में देवविवाह के किये जाने का संकेत पाया जाता है।"

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1· पंचविंश ब्राह्मण - 7/10/1-4

विवाह के उद्देश्यों में वंश-वृद्धि मुख्य उद्देश्य था। वस्तुत: धार्मिक और सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह भी इसी के माध्यम से सम्भव था।यह एक सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह भी इसी के माध्यम से सम्भव था। यह एक सामाजिक बन्धन था, जिसे तोड़ा नहीं जा सकता था। पति-पत्नी को आजन्म एक साथ रहने के लिए वचन बद्ध किया जाता था। व्यक्ति धार्मिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करता था। इस समय दक्षिणा का भी विधान पाया जाता है। ब्राह्मणों में कहा गया है"ब्राह्मण को दक्षिणा रूप में चमस देना चाहिए।"[1] पंचविंश ब्राह्मण में गिरिक्षित औच्चामन्यव है" यह विधान पाया जाता है।

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[2] में "वत्स ऋषि" के सम्बन्ध में कथन है कि मेधातिथि नामक अपने एक प्रतिद्वन्द्वी के सम्मुख अपने उत्पत्ति की पवित्रता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने सफलतापूर्वक अग्निपरीक्षा दी थी।"

"अन्त्येष्टि संस्कार"

यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम संस्कार है। यह संस्कार मनुष्य के मरने पर जब उसके पार्थिव शरीर को दाह क्रिया की जाती थी, तब सम्पन्न किया जाताथा। इसके आगे उस शरीर के लिए कोई अन्य संस्कार नहीं बचता है। चूंकि व्यक्ति की आयु सौ वर्ष मानी गयी है, इसलिए यह संस्कार सौ वर्ष बाद माना जा सकता है। परन्तु मृत्युकाल निश्चित न होने के कारण इसके काल का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

- - - - - - - - - - - -

1. पंचविंश ब्राह्मण - 2 18/2/12

2. पंचविंश ब्राह्मण - 14/6/7-6

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में कहा गया है कि यदि किसी दीक्षित व्यक्ति को दीक्षाकाल में देहान्त हो जाता है तो उसका अन्त्येष्टि संस्कार करके उसकी अस्थियों को ठंढी हो जाने पर एकत्र करके रख देते थे, और उसके किसी अन्य वंशज पुत्र पौत्रादिक को दीक्षित करके यज्ञ को पूर्ण करते थे।" ताण्ड्य में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जिन लोगों को पारिवारिक या याज्ञिक संस्था के दीक्षणों के मध्य किसी का देहान्त हो जाता था, तो वे लोग अपवित्रता के भागी होते थे। इसलिए प्रायश्चितस्वरूप अग्नि की प्रार्थना की जाती थी एवं जीवित व्यक्तियों के दीर्घायुत्व की कामना की जाती थी।

"ताण्ड्यमहाब्राह्मणकालीन स्त्री शिक्षा एवं समाज"

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दू समाज में उनका सम्मान और आदर प्राचीनकाल से आदर्शात्मक और मर्यादा से परिपूर्ण था। वे अपने मनोनुकूल आत्म विकास और उत्थान कर सकती थीं। इन्हें विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। वे कन्या के रूप में, पत्नी के रूप में, प्रेमिका के रूप में तथा माँ के रूप में समाज और परिवार में आदर प्राप्त करती थीं। उनके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है। परिवार और समुदाय में उनके द्वारा कन्या, पत्नी, वधू और माँ के रूप में किये जाने वाले योगदान का हमेशा से गौरवपूर्ण महान स्थान रहा है। "भारतीय धर्म-शास्त्र में नारी सर्वशक्तिमान सम्पन्ना मानी गयी तथा विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति

1• ताण्ड्य ब्राह्मण -9/8/1

2• ताण्ड्य ब्राह्मण -6/10/1-2

की प्रतीक समझी गई। गृह की साम्राज्ञी के रूप में उसे प्रतिष्ठापित किया गया, तथा घर के अन्य सदस्यों को उसके शासन में रहने के लिए निर्दिष्ट किया गया था।"[1] "शनै: शनै: समाज में उसका महत्त्व इतना अधिक बढ़ा कि उसके बिना अकेला पुरूष अपूर्ण और अधूरा समझा गया"।[2]

उस काल में "पुरूष शब्द" को निमित्त स्त्री, सन्तान और व्यक्ति की समष्टि से मानी गई। इस विषय में शास्त्रकारों का कहना है कि केवल पुरूष कोई वस्तु नहीं, अर्थात वह अपूर्ण ही रहता है, लेकिन स्त्री, स्नेह तथा सन्तान ये तीनों मिलकर ही पुरूष{पूर्ण} होता है औरजो पति है, वही स्त्री है, अतएव उस स्त्री से उत्पन्न सन्तान उस स्त्री के पति की होती है। इस प्रकार स्त्री पुरूष को "शरीरार्द्ध" और "अर्द्धांगिनी" मानी गई तथा "श्री" और "लक्ष्मी" के रूप में वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्ध से दीप्त और पुंजित करने वाली कही गयी ।जब तक मनुष्य विवाहोपरान्त भार्या को प्राप्ति नहीं कर पाता था, और प्रजात्पत्ति भी पूरा शरीर होने पर ही हो सकती थी तथा पूरा शरीर अर्थात शरीर की पूर्णता विवाहित पत्नी से ही संभव थी।[3] "ताण्ड्य ब्राह्मण" में कहा गया है "कि यज्ञों से प्राप्त परिणामो में प्रजारूप फल की प्राप्ति कही गयी है।"

समयानुसार इनकी दशा में युगानुरूप परिवर्तन भी होता रहा है। उनकी स्थिति में वैदिक युग से लेकर पूर्वमध्य युग तक अनेक उतारचढ़ाव आते रहे, तथा उनके

---

1. अथर्ववेद -14/14
2. शतपथ ब्राह्मण -5/2/1/10
3. मनुस्मृति - 9/45-"एतावनेव पुरूषो यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह ।
विप्रा: प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृतांगना।"
3. ताण्ड्य ब्राह्मण -21/9

उतार चढ़ाव अधिकारों में उसी के अनुरूप परिवर्तन भी होते रहे। प्राचीन भारतीय इतिहास के एक विहंगाम वलोकन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में स्त्री शिक्षा अपनी सीमा का चरमोत्कर्ष घोतित कर रही थी। बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी स्त्र पुरूषों के समक्ष बिना किसी भेद-भाव के शिक्षा प्राप्त कर रही थी। ऐसा लगता है कि उस स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था, वह ब्रह्मचर्य का सम्यक पालन करती हुई विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी। पूर्ववैदिक काल में स्त्रियों को पुरूषों के समान ही सामाजिक व धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। सभा एवं गोष्ठियों में वे ऋग्वेद की ऋचाओं का गान किया करती थीं। पति के साथ वे यज्ञ में समान रूप से सहयोग करती थीं। सूत्रकाल तक स्त्रियों के यज्ञ सम्पादित करने का वर्णन हमें मिलता है।

शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में उसका महान योगदान था, वह स्वतंत्रतापूर्वक शिक्षा ग्रहण करती थी और स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करती थी। पुरूषों की तुलना में वह किसी प्रकार निम्न और अनुन्नत नहीं थी। वह पतिदेव के साथ प्रत्येक कार्य में सहयोग करती थी। इस प्रकार वह पुरूषों की ही तरह समाज की स्थायी और गौरव शाली अंग थी। वह अत्यन्त सुशिक्षित, सुसभ्य और सुसंस्कृत होती थी। वह पति के साथ मिलकर याज्ञिक कार्य को भी सम्पन्न करती थी। वस्तुतः स्त्री पुरूष दोनों यज्ञरूपी रथ के जुड़े हुए दो बैल थे।[1] अतः यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी "पत्नी" संज्ञा चरितार्थ करती।"[2]

- - - - - - - - - - - - -

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण -3/75

2. शतपथ ब्राह्मण -1/19/2/16

समाज में स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान था, ऐसा उचित भी है। "लोपामुद्रा" "विश्ववारा", "सिकता" "घोषा" आदि ऐसी ही विदुषी स्त्रियाँ थीं, शिक्षा ज्ञान और विद्वता के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि याज्ञिक कार्यों में भी वे अग्रणी थी। "ब्रह्म-यज्ञ" में जिन ऋषियों की गणना की जाती है, उनमें "सुलभा", "गार्गी", "मैत्रेयी" आदि विदुषियों के भी नाम लिये जाते है, जिनकी प्रतिष्ठा वैदिक ऋषियों के समान थी। गार्गी ने तो अपनी प्रतिभा, विलक्षण, तर्क शक्ति विचक्षण मेधा और सूक्ष्म विचार-तंतुओं से दुरूह प्रश्नों की पृच्छाएँ करके याज्ञवल्क्य ऋषि के दांत खट्टे कर दिये। यह भी उल्लेख मिलता है कि स्त्रियां बिना पर्दे के स्वतन्त्रता पूर्वक पुरूषों के साथ विद्वानों की गोष्ठियों और दार्शनिक वाद-विवादों में सम्मिलित होती थीं।

वैदिक युग में छात्राओं के दो वर्ग थे, एक सद्योवधू और दूसरा ब्रह्मवादिनी। सद्यो वधू वे छात्राएँ थी, जो विवाह के पूर्व तक कुछ वेद मंत्रों और याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेती थी तथा ब्रह्मवादिनी वे थी, जो अपनी शिक्षा पूर्ण करने में अपना जीवन लगा देती थीं। इस प्रकार कुछ स्त्रियाँ, जीवन पर्यन्त अध्ययन में लीन रहती थीं, और विवाह नहीं करती थीं। ऋषि कुशध्वज की कन्या "वेदवती" ऐसी ही ब्रह्मवादिनी स्त्री थी। ऐसी स्त्रियाँ बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न होती थीं, जो ज्ञान और बुद्धि में पारंगत ही नहीं, बल्कि अनेक मंत्रों की उद्‌गात्री होती थी। वे दर्शन, तर्क मीमांसा, साहित्य आदि विभिन्न विषयों की पण्डिता होती थी।

अध्ययन मनन के क्षेत्र में स्त्रियों की रुचि बढ़ती गई। दर्शन जैसे गूढ़ विषयों में भी वे पारंगत होने लगी। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी प्रसिद्ध दार्शनिका थी, जिसकी रुचि सांसारिकवस्तुओं में, और अलंकार में न होकर दर्शन शास्त्र में थी। यही, नहीं, उसने अपने पति की सम्पत्ति में अपने अधिकार को, अपने पति याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी के हित में त्यागकरकेवल ज्ञान प्राप्ति की याचना की थी। पुनः यह विवरण भी एक जगह आया है कि जनक की राजसभा में होने वाली विद्वत गोष्ठी में गार्गी ने अपनी अद्भुत तर्क शक्ति से याज्ञवल्क्य जैसे महर्षि को चौंकादिया था।

ब्राह्मणों के अनुसार महिलाएँ शिक्षिकाओं का भी कार्य करती थी, "एक कुमारी जो कि गन्धर्व गृहीता थी, उसने कहा कि हम पितरों से यह कहते हैं कि जो अग्नि होत्र दोनों दिन करता है वह तीसरे दिन किया जाय।"[1] "ताण्ड्य"[2] ब्राह्मण में एक जगह वर्णन आया है कि कुछ महिलाएँ शततन्त्रीक वीणा इत्यादि वाद्ययन्त्र बजाती थी, यह उल्लेख उनकी गायन, वादन एवं नृत्यकला की निपुणता की ओर संकेत करता है।" वे कौशल पूर्वक नृत्य करती थी, तथा ऋग्वेद की ऋचाओं का भी गान करती थी।"[3]

ब्राह्मण कालीन शिक्षा में वह नृत्य, संगीत गान, चित्रकला आदि की भी शिक्षा ग्रहण करती थी। वस्तुतः नृत्य और गीत में स्त्रियों की रुचि सदा से रही है। प्रमदाओं की कमनीय भाव भंगिमा और अप्सराओं की आकर्षक नृत्य-कला और सुन्दरता की केन्द्रविन्दु थीं। "शतपथ ब्राह्मण"[4] में वर्णन आया हैकि

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण- 5/29, कौषीतकी ब्राह्मण- 2/9
2. ताण्ड्य ब्राह्मण -5/6/8
3. ऋग्वेद - 1/92/4, 10/71/11

स्त्रियों का ध्यान इन व्यर्थ की बातों की ओर विशेषकर रहता है, जो व्यक्ति इस लोक में नाचता गाता है, उसी ओर स्त्रियाँ स्वतः आकर्षित हो जाती हैं"।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विवाह सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला गया है और एक जगह कहा गया है"पुरुष शरीर का अर्द्धभाग है, वह तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक उसको पत्नी नहीं होती है, और उसको पुत्र की प्राप्ति नहीं होती है।"[1]

समाज को उदात्त, आदर्श और सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए यह जरूरी था, कि स्त्री का चरित्र और आचरण उज्ज्वल और सुसंस्कृत होता है। उसकी नैतिकता, चारित्रिक सौष्ठव और निष्ठा से कुटुम्ब की गरिमा बनती है, इसलिए दुश्चरित्र, अनैतिक और आचरण हीन स्त्री समाज और परिवारके लिए कलंक मानी गई। "शतपथ"ब्राह्मण[2] में कहा गया है कि यजमान पत्नी को परपुरुषों के बीच यज्ञ-भूमि में नहीं आना चाहिए।"

"बौधायन" केविचार से दुश्चरित्र स्त्री की शुद्धि प्रतिमास होने वाले उसके रक्तस्राव से हो जाती है, जिससे उसका पाप और मल दूर हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट किया गया था कि दुश्चरित्रता का त्याग पति द्वारा नहीं होना चाहिए। प्रतिमास होने वाले रक्त स्राव से वह अपने आप शुद्ध हो जाती है।[3] सामविधान ब्राह्मण के अनुसार स्त्रियों के लिए भ्रूण हत्या करना एक महान पाप बतलाया गया है। ऐसा करने पर इन्हें प्रायश्चित करना पड़ता था।"[4]

- - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण- 1/3/1/21
2. बौधायन धर्मसूत्र -2/2/57
3. सामविधान ब्राह्मण- 1/5/16
4. शतपथ ब्राह्मण -2/5/2/20

वस्तुत: नारी के लिए पातिव्रत धर्म का पालन परम मंगलमय माना जाता था।[1] समाज में किसी प्रकार के नैतिक स्खलन या शैथिल्य का चिन्ह नहीं पाया था। ऐसे नैतिक आदर्श पर चलने वाले ब्राह्मण कालीन समाज का अवलोकन कर कोई भी विद्वान उसके ऊपर अनैतिकता का आरोप नहीं कर सकता।

प्राचीन काल में वेश्या वृत्ति अपनाने वाली गणिकाओं का भी वर्णन मिलता है, इनका समाज के साधारण लोगों से स्थान श्रेष्ठ माना जाता था। गायन, वादन, संगीत के प्रेमी लोग गणिकाओं के प्रति आकृष्ट रहा करते थे। और उनके यहाँ आया-जाया करते थे, इनकी जीवन संगीत और ललित कला का सम्मिश्रित रूप था, जो इनका प्रधान व्यवसाय था। आज की तुलना में उस युग में ये आदर और प्रशंसा की पात्र थीं। राज्य और समाज में इन्हें उच्चस्थान प्राप्त था। अपने आगमन, सौंदर्य, और संगीत प्रदर्शन से वह लोगों को आकृष्ट करती थीं तथा श्रेष्ठ जनों के मानस में स्थायी प्रभाव स्थापित कर सकने में समर्थ होती थी।

महाभारत से विदित होता है कि जिस समय गान्धारी गर्भवती थी, उस समय परिचर्या और सेवा के लिए एक वेश्या लगाई गई थी। श्री कृष्ण जब शान्ति स्थापना के लिए वार्ता हेतु कौरवों के यहाँ पधारे थे, तब वेश्याओं ने उनका स्वागत किया था। कभी-कभी सेनाओं के साथ भी वेश्याएँ चलती थीं। संघर्ष के लिए सन्नध पाण्डवों की सेना में वेश्याएँ भी रहा करती थी। जातकों में विवृत सुलसा ऐसी ही गणिका थी। इस तरह का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आया है। तैत्तिरीय

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. शतपथ ब्राह्मण - 2/5/2/20

ब्राह्मण[1] में कहा भी गया है" पुंश्चली एवं स्वैरिणी स्त्रियों को समाज का कलंक माना जाता था। पुरुषमेध के बलि प्राणियों की तालिका में इनकी गणना की गई है।

समाज में ऐसी भी स्त्रियों का वर्ग था, जो पति की अनुपस्थिति में सच्चरित्रता और सदाचार के साथ रहता था, इस प्रकार ऐसी स्त्रियों को प्रोषित भर्तृका कहा जाता था, जो अपने विदेश गये पति द्वारा की गई व्यवस्था पर अपना भरण पोषण करती थी। पति की मृत्यु के बाद स्त्री के लिए दो मुख्य कर्तव्य निर्देशित थे, जिनमें से किसी एक का विधवा के लिए अनुसरण करना वांछनीय था। एक पति के साथ सहमरण या सती होना और दूसरे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए[2] शेष जीवन व्यतीत करना था। सती प्रथा की भर्त्सना का भी वर्णन मिलता है।

ताण्डय ब्राह्मण[3] में एक जगह उल्लेख आया है कि पति के मृत्यु के पश्चात युवती जाया के (विधवा) कहलाने का संकेत मिलता है। इन्हें इस तरह जीवन भर सादा जीवनव्यतीतकरना पड़ता था, इन्हें श्रृंगारिक वस्तुओं तथा भोगविलास की चीजों से बहुतदूररहना पड़ता था। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि स्त्रियों को उस समय राजनीतिक अधिकार भी मिले हुए थे। इस तरह इन्हें इस क्षेत्र में समुचित सम्मान प्राप्त था, वे अनेककर्तव्यों का पालन जिस प्रकार करती थी, वह पुरुषों से किसी भी प्रकार कम नहीं था।शतपथ[4] ब्राह्मण में कहा गया है " इन्द्राणी साम्राज्ञी होने के कारण उष्णीश धारण किये

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण -3/4/15/1
2. मृच्छकटिक - अंक 10
3. ताण्ड्य ब्राह्मण -4/1
4. शतपथ ब्राह्मण -5/3/5/23

रहती थी।" इन्हें वीरांगना शब्द से उस समय भी सुशोभित किया जाता था। उनकी गणना वीरों में की गयी है, ये पुरुषों के समान इस क्षेत्र में अग्रणी थी।[1] ताण्ड्य ब्राह्मण में एक वर्णन आया है जिसमें राममहिषी की गणना अष्टवीरों में की गई है।

इस तरह यह प्रतीत होता है कि समाज में स्त्री का स्थान महत्वपूर्ण था। यज्ञ में पत्नी यजमान की सहधर्मिणी होती है, ऐसा कहा गया है। पत्नी से विहीन पुरुष यज्ञ करने का कथमपि अधिकारी नहीं होता था। पत्नी शरीर का आधा भाग मानी जाती थी। शतपथ ब्राह्मण में वेदि की रचना के सम्बन्ध में स्त्री सौन्दर्य के लिए एक महनीय आदर्श की ओर संकेत देखने को मिलता है, स्थूल जघन, कन्धों के बीच स्तन का भाग जघन की अपेक्षा कम स्थूल तथा हाथों से ग्रहणीय मध्यभाग अर्थात कटि भाग स्त्री की शारीरिक सुषमा के श्लाघनीय प्रतीक थे।[3] इस तरह का रूप सुन्दर केशों तथा अन्य प्रकार के तमाम आभूषणों से सुसज्जित होकर चमक उठता था। इस प्रकार की खूबसूरत स्त्री के साथ उस काल के पुरुष विवाह सम्बन्ध स्थापित कर गुणवान पुत्र की उत्पत्ति को स्वर्ग का मुख्य साधन समझता था।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है कि नारी के लिए पातिव्रत धर्म का पालन परम मंगलमय माना जाता था।[4] समाज में किसी प्रकार के नैतिक स्खलन या शैथिल्य का चिन्ह नहीं पाया जाता था। ऐसे नैतिक आदर्श पर चलने

- - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य महाब्राह्मण =19/7/1-4
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण -2/2/2/6
3. शतपथ ब्राह्मण - 1/2/5/16
4. शतपथ ब्राह्मण -2/5/2/20
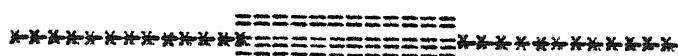
वाले ब्राह्मणकालीन समाज को जानकारी कर कोई भी व्यक्ति उसके ऊपर अनैतिकता का आरोप नहीं लगा सकता ।

इस प्रकार, [illegible] महिला समाज पर ध्यान देते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी दशा उन्नत थी। सामाजिक ,धार्मिक एवं राजनीतिक अधिकारों से सम्पन्न ब्राह्मण युग की महिला प्राचीन भारत का एक आदर्श का प्रतीक है। ताण्ड्य ब्राह्मण में कुल मिलाकर अध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकलता है। यह युग नारी को संकीर्णवादता के पाशों में आबद्ध करने वाला नहीं था बल्कि उसे प्रकृति के प्रांगण में स्वतन्त्रता पूर्वक साधिकार जीवन यापन करने देने वाला था।वह सभ्यता और संस्कृति का स्वर्णकाल था, जिसमें नारी के सम्मानपूर्ण जीवन यापन करने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार ब्रह्मणकाल में भी स्त्रियों को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त थी, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

- - - - - - - - - - - - -

--*-*-*-*-*-*-*-*-*-*============*-*-*-*-*-*-*-*-*-*-*-*

पंचमोऽध्याय:

ताण्ड्य महाब्राह्मणकालीन आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति

ताड्य महाब्राह्मणकालीन आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति

"ताण्ड्यमहाब्राह्मण कालीन "आर्थिक स्थिति"

किसी भी देश अथवा समाज का आर्थिक संगठन किस प्रकार का है, इस पर विचार करना , सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन करने वालों के लिए नितान्त आवश्यक है। इस कारण हम ताण्ड्य ब्राह्मण कालीन आर्थिकदशा के विवेचन पर विशेष जोर देने की कोशिश करेंगे। वस्तुत: आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति अथवा समाज ही इहलोक की दैनिकचिन्ताओं को छोड़कर पारलौकिक विषयों पर चिन्तन कर सकता है। ब्राह्मण युग में वैदिक कालीन भारतीय समाज अपने विकास को,पारम्भिक दशा को पारकर सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित रूप धारण कर रहा था। ब्राह्मण युग में सांस्कृतिक विकास की विभिन्न स्थितियों की झांकी मिलती है। उस युग को जिस आर्थिक व्यवस्था की झलक मिलती है, उसके आधार पर निश्चय रूप से यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण युग की आर्थिक व्यवस्था अत्यंत सुदृढ़ थी।

वस्तुत: आर्थिक जीवन के दो भिन्न पहलुओं के दर्शन होते हैं आर्थिकजीवन के विकास की प्रथम स्थिति में आर्यों में चिर पर्यटनशी प्रवृत्ति का प्राधान्य था। आर्यों ने भारत में बड़े- बड़े कबीलों में प्रवेश किया था, जिनमें से अनु,पुरु,द्रुह्यु 'यदु' और 'तुर्वस' का ऋग्वेद् में वर्णन मिलता है। अधिकांश आर्यों ने ब्राह्मण युग तक आते आते भारत की सुविस्तृत भूमि में अपना स्थायीनिवास स्थान बना लिये थे। धीरे-धीरे ये बसे हुए कबीलों का अब एक राज्य का स्वधारण करने लगे थे। भरत, पंचाल, कुरु,उशीनर मत्स्य आदि राज्य प्रसिद्ध थे। यह आर्यों के विकास की द्वितीय स्थिति थी, इससे आर्य स्पष्ट रूप से विकास करने लगे थे। ब्राह्मण युग में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों की स्थिति का वर्णन मिलता है।

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में उल्लेख आया है कि "व्रात्य" एक घुमक्कड़ जाति थी, यह न तो खेती करती थी और न तो यज्ञ ही। केवल इधर-उधर घूमती हुई अपना जीवन-यापन करती थी, संभवत: इनकी आजीविका का साधन पशु-पालन ही था।" पर्यटन शील प्रवृत्ति वाले लोगों को पशुपालन के अतिरिक्त और अन्य किसी आर्थिक व्यवस्था को अपना सकना असम्भव था। संभवत: साधन उपलब्ध होने पर वे यत्र-तत्र कृषि कर्म भी कर लेते थे।

ब्राह्मण युग तक आते आते अधिकांश आर्य लोग स्थायी रूप से एक स्थान पर रहने लगे थे। उत्तरी पूर्वी भारत के साथ-साथ अब वे दक्षिण भारत में भी फैलने लगे थे। ऐतरेय ब्राह्मण में "अन्ध्रपुण्ड" का उल्लेख आया है, पुन: शुन: शेप आख्यान में आया हुआ ग्राम और राज्य में ऐसी संस्थाओं का विकास हो रहा था। ग्राम एवं राज्य में ऐसी संस्थाओं को विकास हो रहा था। प्रत्येक राज्य के अपने अपने राजा होते थे। जो उस राज्य में बसने वाली प्रजा के धन-जन की रक्षा के लिए अधिकारी होते थे। वे इन्हीं मंगल कामनाओं को ध्येय मानकर दीर्घसत्रों का आयोजन करते थे। एक स्थान पर चिरस्थायी निवास स्थान बनाये रखना, बिना एक दो अथवा सौ वर्षों तक के सत्रों का अनुष्ठान कदापि संभव नहीं था। कृषि पशुपालन उस काल की आजीविका के प्रमुख साधन थे। इसके अतिरिक्त इस युग में नाना प्रकार के शिल्प कार्यों में भी उन्नति की गयी थी।

---

1. ताण्ड्य ब्राह्मण -17/1/4

ब्राह्मण युग में नगर सभ्यता विकसित होने लगी थी। 'आसन्दीवती','कुरू' 'काम्पिल्य''काशी', 'कौशल', 'मत्स्य' इत्यादि नामों के राज्यों का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। सुव्यवस्थित सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक विकास से विशेष सम्बन्ध होता है। समाज चार वर्गों में विभाजित था- ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। इसके अतिरिक्त अनेक उपजातियों के अस्तित्व का भी संकेत मिलता है जिनमें से अधिकांशत: किसी विशिष्ट वाणिज्य व्यवसाय अथवा शिल्प को अपनाने के कारण एक जाति ही बन गये थे। ये सभी जातियाँ और उपजातियाँ अपने अपने कार्यों को नियमित रूप से करती थी।

कृषि- प्रागैतिहासिक काल से भारत वर्ष एक कृषि प्रधान देश था। कुछ लोग आर्य शब्द को स्वयं कृषि का अर्थ व्यक्ति के अर्थ में उपयुक्त करते थे। इतना तो निश्चित है कि ऋग्वेद में प्रयुक्त होने वाला आर्य शब्द विजेताओं का एक वर्ग अथवा जाति के रूप में उन्हें आदि-वासियों से पृथक् करता था। "ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में इसी को प्रदर्शित करने के लिए आर्य और शूद्र के मध्य एक कृत्रिम युद्ध का यज्ञ के अवसर पर वर्णन मिलता है।" उसी में एक जगह अब्राह्मणवादी व्रात्यों द्वारा कृषि न करने का उल्लेख मिलता है।[2] जैमिनीय ब्राह्मण में अनार्य असुरों द्वारा कृषि करने का उल्लेख पाया जाता है। "ताण्ड्य ब्राह्मण"[3] में एक जगह वर्णन आया है कि सायस्क नामक एकाह बोये हुए खेत और खलिहानों के मध्य होता है।

- - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 5/6/14-17
2. ताण्ड्य ब्राह्मण - 17/1-4
3. ताण्ड्य ब्राह्मण - 16/12/16

भूमि व्यवस्था तथा अधिकार-

ब्राह्मण युग में भूमि तीन भागों में बंटी थी-1. वास्तु, 2. कृषि के योग्य 3. पशु चारण के योग्य। लोगों को अपने रहने के लिए अलग-अलग गृह होते थे। कृष्य भूमि पर खेती करने वाले का पूर्णाधिकार होता था। इस विचार की पुष्टि में ऋग्वेद में भी अनेक साक्ष्य प्राप्त होते हैं। अत्रि की पुत्री अपाला ने इन्द्र से अपने पिता के खेतों की उर्वरता बढ़ाने के लिए प्रार्थना की।"[1] "खेती के स्वामी को "क्षेत्र पति" कहते थे।[2] वाजपेय याग में क्षेत्रपति के लिए चरु निवेदित किया जाता था। क्षेत्राभिमानी देवताओं को क्षेत्रपति कहते थे। ऐतरेय[3] ब्राह्मण में उपलब्ध शुनः-शेपाख्यान में इस बात का संकेत मिलता है कि पिता अपने परिवार का एक सत्तात्मक स्वामी होता था। पुत्रों को उसके विरोध का साहस नहीं होता था। निश्चय ही उस काल में कृषि उर्वरा या क्षेत्र . में उन्नति हुई थी।"जुती हुई या अच्छी बुवाई के योग्य भूमि को उर्वरा या क्षेत्र के नाम से सम्बोधित करते थे।[4] जो वर्ष में दो फसलों के देने में समर्थ होते थे। खेत को "क्षेत्र" भी कहते थे।[5] कृषि के विषय में ज्ञान रखने वाले को "क्षेत्रज्ञ" कहते थे।[6]

- - - - - - - - - - -

1. ऋग्वेद - 8/91/5-6
2. ताण्ड्य ब्राह्मण - 1/8/15
3. ताण्ड्य ब्राह्मण - 7/15/18
4. कौषीतकि ब्राह्मण -30/8, ताण्डय ब्राह्मण -16/13/6
5. ताण्ड्य ब्राह्मण -2/1/4
6. ताण्ड्य ब्राह्मण - 21/2/8

ब्राह्मण युग में लोग सिंचाई के महत्व से परिचित थे। सदैव की भाँति उस युग में भी कृषक अधिकांशतया वर्षा के जल पर निर्भर रहते थे। वर्षा होने से खेती अच्छी होगी, इस बात का अनुमान लगाते थे। "ताण्डय ब्राह्मण"[1] में उल्लेख है कि वर्षा की कामना से वहिष्पवमान् सूक्त का भी पाठ करते थे। वर्षा के अलावा कुँआ, नदी वेशन्तो के अस्तित्व का स्पष्ट संकेत भी मिलता है इसका भी प्रयोग सिंचाई के साधनके रूप में अवश्य होता रहा होगा। ब्राह्मण साहित्य में वर्णित यज्ञा-नुष्ठानों के सम्पादन से प्रजा, पशु और धन की प्राप्ति रूप फल का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार अन्न पर आधिपत्य प्राप्ति के लिए भी प्रयोग विधि का वर्णन मिलता है।

"अन्न"

ब्राह्मण साहित्य में अन्न के अर्थ में धान्य शब्द का प्रयोग मिलता है। ब्राह्मण साहित्य में उल्लेख है कि उत्पन्न अन्न के दो भेद माने जाते थे-कृष्ट और अकृष्ट। भूमि कर्षण करके जो अन्न उत्पन्न किया जाता था, उसे कृष्ट कहते थे, तथा जो अन्न विना भूमि को जोते उत्पन्न किया जाता था उसे अकृष्ट कहते थे।"[2]

'यव'

यह उस युग का मुख्य अन्न था। ऋग्वेद[3] में "यव" शब्द का "जौ" अन्न विशेष के अर्थ में नहीं, वरन् अन्न मात्र के लिए प्रयोग हुआ। "यव" की फसल वसन्त ऋतु के बाद तैयार होती है।

- - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्यब्राह्मण - 6/10/15

2. ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/9/9

व्रीहि

"सामान्यतः यव के साथ प्रयुक्त होने वाला यह अन्न उस युग का मुख्य खाद्यान्न था।"[1] व्रीहि के अनेक भेदों के होने का भी संकेत मिलता है। बड़े चावलों के लिए "महाव्रीहि" शब्द का प्रयोग किया जाता था। काले और लाल दो रंग के चावलों का उल्लेख मिलता है।

"श्यामांक"

यह भी व्रीहि का ही एक प्रकार है। "श्यामांक चाण्डाल" का भी वर्णन पाया जाता है। यह नाम में अत्यन्त छोटा होता था। आजकल भी सांवा का चावल मिता है। यह अत्यन्त छोटा होता है।सम्भवतः यहीश्यामांक हो।

'प्रियंगु'

इसका भी ब्राह्मणों में उल्लेख आया हुआ है। यह एक प्रकार का धान होता है। नीवार- यह भी एक प्रकार का अन्न था। सम्भवतः व्रीहि का ही प्रकार था। इसके साथ नाम्ब, 'गवोधुका', 'गोधूम,'मसूर' का भी वर्णन ब्राह्मण साहित्य मे पाया जाता है। ताण्ड्य ब्राह्मण[2] में तिल का वर्णन आया है। इससे अवश्य ही तेल निकाला जाता रहा होगा ।

"आरण्यों का महत्व"

बनों में स्वतः उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ समस्या में ही सहयोगी नहीं होती थीं, वल्कि आर्थिक दृष्टि से भी, उस युग में लोगों के लिए उपयोगी थी। अरण्य सम्पदा के चावल (नीवार) गृह, रथ, पशुओं के भोजन प्राप्त होता था।इसके

- - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण -1/8/15

अतिरिक्त औषधि सम्बन्धी झाड़ियाँ तथा पौधे मिलते थे। आरण्यों से ही मधु, फल, गुग्गल आदि सुगन्धियाँ उपलब्ध होती थी। अरण्य सम्पदा का उस युग के लोगो के लिए आर्थिक दृष्टि से महत्व था। उस युग के लोग बहुत से महत्वपूर्ण उपयोगी वृक्षों से परिचित थे। "ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में "उदुम्बर" वृक्षों के एक वन का वर्णन प्राप्त होता है।" इसकी लकड़ी से घरेलू तथा यज्ञीय साधनों के बनाये जाने का वर्णन मिलता है।

"ताण्ड्य[2] ब्राह्मण में वर्णित एक वृक्ष का नाम वरुण" मिलता है यह "वरुण" नामक वृक्ष का द्योतक है।" अर्क, अमला नामक वृक्षों का उल्लेख भी पाया जाता है।

उक्त वृक्षों के अलावा नाना प्रकार के पौधों का वर्णन भी पाया जाता है, जिनमें नाना प्रकार के अभिचार, वशीकरणादि के प्रयोग में काम होता था। अध्याण्डा, अवला, अश्मगन्धा, अश्ववाल, उर्वासक। "ताण्ड्य ब्राह्मण"[3] में इसका उल्लेख आया है कि कमल के फुल का जन्म नक्षत्रों के प्रकाश से माना गया है। कमल के फूलों का हार बनाने की प्रथा थी।" इसी ब्राह्मण में यह भी वर्णन आया है कि "पूतिका" एक पौधा था, जिसका सोमलता के स्थान पर प्रयोग होता था। पुन: इसी में "प्रमोथा" का भी वर्णन पाया जाता है जो सोमलता के स्थान पर प्रयोग में लाया जाता था।"[5] इसके अतिरक्त ब्राह्मणों में फलवती, विस, विम्ब, प्रताति, राण, इत्यादि पौधों का भी उल्लेख पाया जाता है। ताण्ड्यब्राह्मण[6] में "गुग्गुल" नामक पौधे को भी वर्णन आया हुआ है, इसमें अग्नि प्रज्वलित करते समय उपयोग करने का संकेत पाया जाता है।

पशु

वास्तव में स्थायी रूप से किसी स्थान पर बसने के पूर्व पशुपालन लोगों का प्रमुख पेशा था। यद्यपि ब्राह्मण युग में वैदिक आर्य स्थायी रूप से आर्यावर्त में ही नहीं, वरन् अंशत: दक्षिणावर्त में भी बस गये थे, तथापि पशु पालन उनके व्यावसायिक जीवन का मुख्य अंग था। पशुधन से प्रत्येक वैदिक आर्य सम्पन्न था। ब्राह्मण साहित्य में प्रसङ्गत: अनेक पशुओं का उल्लेख पाया जाता है। पशु दो प्रकार के माने जाते थे - ग्राम्य और आरण्य। ग्राम्य पशु अनेक प्रकार के होते थे- गौ, अवि, गर्दभ उष्ट्र, अश्वतर इत्यादि। ये बांधकर रखे जाते थे। इन्हें दिन में चरने के लिए छोड़ दिया जाता था। वे सायंकाल को घर लौटते थे। [1]ताण्ड्य ब्राह्मण[1] पशु सम्पन्न व्यक्ति को धनवान माना जाता था। आर्यों को सदैव उपके चोरी हो जाने एवं बलात हर जाने का भय बना रहता था। "ताण्डय ब्राह्मण"[2] में वर्णन आया है है कि लोगों मे पशुधन की वृद्धि की कामना इतनी प्रबल थी कि वे लोग अपने भ्रातृव्यों के पशुओं को प्राप्त करने की इच्छा रखते थे।" यज्ञ के अवसर पर गाड़े यूथ पर यदि अंकुर निकल आते थे तो इसे अशुभ माना जाता था। ऐसा विश्वास था कि उस यजमान के पशु निर्वीप हो जाते थे, और प्रायश्चित स्वरूप वहुवर्ण वाले पशु का त्वष्टा के लिए आलभन करते थे।

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/8/10
2. ताण्ड्य ब्राह्मण - 8/4/7

"ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में "व्रात्य" लोगों के नुकीले जूते पहिनने के संबंध में संकेत मिलता है। कपड़ा बुनने की कला के लिए भी वर्णन इस में आया हुआ है। कपड़ों को बुनने वालियों के लिए "वायित्" शब्द का प्रयोग मिलता है।[2] "ताण्ड्य ब्राह्मण"[3] में इसे "तन्त्र" शब्द से अभिहित किया जाता था।

ऋग्वैदिक काल से ही भारतीय आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र थे, कृषि उनके आय का मुख्य साधन था। वस्तुत: इनका रहन-सहन अत्यन्त सादा था। भोजन और वस्त्र की समस्या कृषि उत्पादन से ही हल हो जाया करती थी। कपास उत्पन्न करके स्वयं उसमें परिश्रम करके वस्त्र तैयार कर लेते थे। कपास उत्पन्न करके, स्वयं उसमें परिश्रम करके वस्त्र तैयार कर लेते थे। इसके अतिरिक्त अन्य समस्याओं का समाधान ग्राम शिल्पियों की सहायता से हो जाता था। एक ग्राम दूसरे ग्राम पर निर्भर रहीं रहता है, मगर यह अवस्था सदैव न रह सकी। बादमें इनकी यह स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी थी। "ब्राह्मण युग में" वाणिज्य शब्द का प्रयोग मिलता है।[3]

ब्राह्मण साहित्य में अनेक यातायात के साधनों के उपलब्ध होने का संकेत मिलता है। शायद इनके द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान ले जाते रहें होंगे, सिन्धु देशीय अश्वों का मध्य देश में प्रयोग होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस युग की आर्थिक व्यवस्था पर्याप्त सुदृढ़ थी।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 17/1/15
2. ताण्ड्य ब्राह्मण - 1/8/9
3. ताण्ड्य ब्राह्मण - 6/5/2-19

ताण्ड्य महाब्राह्मण कालीन "धर्म और आचार"

ब्राह्मण युग में यज्ञ का सम्पादन ही धर्म का मुख्य ध्येय था। सच तो यह है कि यज्ञ के सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुष्ठानों के लिए ब्राह्मण ग्रंथों में बड़े विस्तार के साथ वर्णन प्राप्त होता है तथा इन विधियों के लिए पूर्ण आग्रह भी दिखायी पड़ता है। अग्नि की स्थापना कब करनी चाहिए ? कैसे करनी चाहिए ? घी की आहुति वेदी में कहाँ गिरे ? वेदि पर बिछाने के लिए दर्भ का अग्रभाग पूरब की ओर रहता है, या उत्तर की ओर आदि का विवेचन इतनी सूक्ष्मता तथा विस्तार के साथ किया गया है। "सभी कर्मों में यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ कर्म माना जाता था।[1]

वस्तुत: ब्राह्मण साहित्य कर्मकाण्ड परक तो है ही, इसमें सविस्तार यज्ञ प्रक्रियाओं का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण पाया जाता है। मूल रूप से इस साहित्य में यज्ञों के विधि विधान का ही वर्णन पाया जाता है। चूँकि यज्ञों का देवताओं से विशेष सम्बन्ध होता है, इसलिए द्रव्यादि की आहुतियाँ मुख्यरूप से विभिन्न देवताओं को दी जाती हैं। इस कारण देवताओं के विषय में अनेक बातें स्थल-स्थल पर उनके स्वरूप पुरोडशादि के विषयों में कही गयी है, जिनसे तत्कालीन धार्मिक स्थिति बहुत कुछ प्रकाश में आती है। इन्हीं यज्ञों में "ब्रह्बोध" नामक वार्ताओं के अन्तर्गत दार्शनिक विचारों का भी वर्णन पाया जाता है वस्तु धर्म और दर्शन अन्योन्याश्रित हैं।

---

1. "यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म" शतपथ ब्राह्मण- 1/7/3/5

वास्तव में किसी भी काल के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास को जानने के लिए उस युग का अन्नपान, रहन-सहन, सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक दशा के विषय में ही जानना पर्याप्त नहीं होता है, वरन उस काल का बौद्धिक विकास, उपासना विधियाँ, परम्पराओं और आचार-विचार के विषय में भी जानना जरूरी होता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मण युग के सांस्कृतिक अध्ययन को सर्वांग सम्पन्न बनाने के लिए उस काल के धार्मिक स्थिति अध्ययन को सर्वांग सम्पन्न बनाने के लिए उस काल की धार्मिक स्थिति तथा मान्यताओं आदि पर भी विचार किया गया है। धर्म का विशेष सम्बन्ध उपास्य देवों से होता है। प्रस्तुत अध्याय में इसी पर विवेचन किया जायेगा।"

"धर्म"

प्राचीनतम वैदिक धर्म उपासना प्रधान एवं सरल था, ब्राह्मण के समय यह कर्मकाण्डप्रधान और जटिल हो गया था और अन्त में उपनिषदों के समय ज्ञान पर बल दिया जाने लगा था। चूँकि आर्य लोग जंगलों में रहते थे, वर्षा, विद्युत, प्रकाश, सूर्य इत्यादि नाना प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों से भयभीत होकर उनकी स्तुति के लिए मंत्र पढ़ते थे संहिताओं में जो विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित मंत्र एवं सूक्त हैं, उनमें कोई उच्च कोटि की भावना निहित नहीं है। परन्तु वेद के गम्भीर अध्ययन से शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर हम पहुँचेंगे कि यह बड़ा सुसंस्कृत, कलात्मक, परिष्कृत एवं प्रौढ़ धर्म है।

ब्राह्मण काल में आते-आते धर्म प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में इतना घुलमिल गया था कि पृथक संस्था के रूप में उसका अस्तित्व ही अदृश्य हो गया। जन्म से

लेकर मृत्यु तक भारतीय जीवन का प्रत्येक कार्य, भौतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र का प्रत्येक स्फुरण ऐहिक तथा पारलौकिक जगत से सम्बद्ध उसकी प्रत्येक क्रियाकलाप धर्म की विशाल क्रोड में ही रहता था। प्रात: से रात्रि पर्यन्त तक का क्रियाकलाप या उसमें की जाने वाली चेष्टाएँ धर्म की रज्जु से आबद्ध थीं। धर्म की विस्तीर्ण छाया में जीवन और मृत्यु की समग्र सम्भव विषयों को ढक दिया।

ब्राह्मण साहित्य में जिस धर्म के विषय में वर्णन मिलता है। वह वैदिक धर्म मूलत: संहिता युग के समान होने पर भी वाह्य रूप से परिवर्तित हो गया था, भौतिक वातावरण अब छल-कपट वशीकरण तंत्र मंत्र आदि में परिवर्तित हो रहा था। विशेष रूप से सामविधान ब्राह्मण में और गौण रूप से प्राय: सभी ब्राह्मणों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनमें अभिचार और वशीकरणादि करने की विधि, धनिकों को वश में करके धन प्राप्ति के उपाय, गड़ा हुआ धन प्राप्त करने के उपाय श्री ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिए उपायों का उल्लेख पाया जाता है। लोग अपने में गुणों की वृद्धि के स्थान पर तन्त्र-मन्त्र की सिद्धि द्वारा उसे पाने कीचेष्टा करते थे। अभीष्टि की सिद्धि के लिए मारण आभिचार ,वशीकरण, जादूटोना एवं यज्ञादि के विधान का उल्लेख ब्राह्मण साहित्य में मिलता है। ब्राह्मणकालिक ब्राह्मण भक्त को अब यह ज्ञात था कि अमुक कर्म को अमुक विधि से करने से अमुक फल की प्राप्ति होगी। उसे अपने बाहुबल पर पूर्ण विश्वास भी था। यही कारण था कि वह वृहत कर्मकाण्ड युक्त सैावर्षो तक चलने वाले दीर्घ कालिक सत्रों को निर्दोष कर सकते केविश्वास सहित अनुष्ठान लेता था। यदि किसी प्रकार भूल हो जाती थी, तो वह प्रायश्चित विधि को भी जानता था।

कर्म प्रधान ब्राह्मणकाल में यज्ञ को देवताओं को आत्मा माना गया है। वास्तव में ये स्वयं ही यज्ञीय है, यही नहीं यज्ञ ही देवों का अन्न एवं वास स्थान भी बन गये है। ब्राह्मणों में उपलब्ध देवताओं का मानवीय रूप की झलक पायी जाती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार देवता त्रयावृत्त हैं, इन तीन वर्गों से बने प्रत्येक वर्ग में ग्यारह -ग्यारह देवता हैं। इस प्रकार "कुल मिलाकर तीस देवता हैं"।[2] ऐसा ब्राह्मणों में वर्णन आया हुआ है। कहीं-कहीं पर कहा गया है कि कुल देवता तीन हैं वसु , रुद्र और आदित्य। इस कथन में कोई दोष भी नहीं है। वस्तुत: ये तीन नहीं इक्तीस देवता हैं और इनकी गणना तैंतीस देवताओं के की जाती है। सोमपान करने वाले देवताओं की संख्या तैंतीस देवताओं में की जाती। सोमपान करने वाले देवताओं की संख्या तैंतीस कही कही ब्राह्मण ग्रन्थों में बतलाई गयी है। इनमें आठवसु ,एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य प्रजापति और वषट्कार माने गये ।[3] कहीं-कहीं पर चौतीस देवताओं का भी विवरण पाया जाता है।

"अन्तरिक्ष और द्युस्थानीय " दो प्रकार के देवता माने गये हैं। द्युस्थानीय देवता की निष्पत्ति दिव् धातु से हुई है। फलत: इसका अर्थ है-चमकने वाला, और इसका सम्बन्ध देव शब्द के साथ है। ब्राह्मण साहित्य में "द्यौ" शब्द का प्रयोग पाया जाता है। अनेक स्थानों पर इसका अर्थ आकाश या अन्तरिक्ष से मापा गया है, अर्थात इनसे सम्बन्धित देवताओं को द्युस्थानीय देवता से अभिहित

---

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण - 3/8/10/4
2. ताण्ड्य महाब्राह्मण -4/4/11
3. ताण्ड्य महाब्राह्मण- 6/2/5

किया जाता है। उसे वायु के आश्रित बतलाया गया है। ताण्ड्य ब्राह्मण में "एन्द्री" और "ब्राह्मणी" इत्यादि विशेषणों से अभिहित किया गया है। ब्राह्मण साहित्य में इतस्तत: कुछ उदाहरण मिलते हैं, जिनमें वेदिपात्र, छन्द साम इत्यादि के साथ उनका समीकरण किया गया मिलता है। इसके अतिरिक्त उनके लिए यज्ञों में एक कपाल में पुरोडाश निर्वपन किया जाता है।

"वरुण" -

ब्राह्मण साहित्य में "वरुण" एक नैतिक देवके रूप में विशेष प्रचलित है। वरुण का व्यक्तित्व मानवीय करण की अपेक्षा नैतिक पक्ष में ही अधिक विकसित हुआ है। ब्राह्मण साहित्य में वरुण एक सुन्दर केशविहीन पीत चक्षु वाले वृद्ध के रूप में वर्णित है। जब कि लौकिक जगत में अश्व को वरुण का प्रतीक माना गया है। वरुण को वर्णत: क्षत्रिय माना गया है। वरुण को देवों और मनुष्यों का ही नहीं सकल सत्ता और समस्त जगती का राजा माना गया है। "ताण्ड्य ब्राह्मण"[1] में वरुण देव के लिए एक स्थान पर "अन्नपति" विशेषण का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार इन्द्र के साथ अनेक कथाएँ सम्बद्ध हैं, उस प्रकार कोई भी कथा वरुण केसाथ प्रचलित नहीं है। कभी-कभी ऋग्वेद में भी वरुण सामुद्रिक जलों के साथ सम्बद्ध होकर आये है। वर्षा जल का कृषि से भी सदैव विशेष सम्बद्ध होता है। यही कारण है कि उन्हें "अन्नपति " कहा गया है। ताण्ड्य ब्राह्मण[2] में वरुण को रात्रि के आकाश के साथ सम्बद्ध किया गया है। ऐसा विवरण वरुण के के आकाश के सम्बन्धों के विषय में संकेत करता है।

"मित्र"- कर्मकाण्ड की दृष्टि से मित्र को यज्ञों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यज्ञों

ब्राह्मण में कहा गया है कि "वह यज्ञों के दोषों का शमन करने वाले है, उन्हें यज्ञों में नव कपालों में पुरोडाश निर्वपन किया जाता है। पुनः इसी ब्राह्मण के अन्तर्गत "मित्र और वरुण देवता का साथ अधिकांश स्थलों पर एक साथ पाया जाता है।"[1] वस्तुतः अन्यत्र ब्राह्मणों में भी इनका भी विवेचन कई जगह एक साथ ही आया हुआ है।

सूर्य- सूर्य देव से सम्बन्धित आख्यायिकाएँ भी उपलब्ध होती हैं। सूर्य को समस्त सृष्टि को प्रकाश प्रदान करने वाला बताया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में इसका विवेचन आसानी से देखा जा सकता है। इसके साथ-साथ धर्मग्रन्थों में भी इन्हें देवताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस प्रकार ब्राह्मण साहित्य भी "सूर्य" के विवेचन से अधूरा कैसे रह सकता है।

ब्राह्मण साहित्य में "सूर्य को सोम मानकर देवताओं के द्वारा "आज" किये जाने का संकेत पाया जाता है।[2] यही नहीं सूर्य देव को इह लोक में भी प्रतिष्ठा पूर्ण स्थान प्राप्त है, ऐसा विवरण ताण्ड्य[3] ब्राह्मण में पया जाता है जिसमें कहा गया है "भौतिक जगत में भी सूर्य को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है।उनके लिए यज्ञों में पुरोडाश का एक कपाल निर्वपन का विधान बताया गया है।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य महाब्राह्मण- 21/10/23

2. वही - 9/1/3-5

3. वही - 4/5/2

"सवितृ" ये मूलत: एक विशुद्ध और सरल भावात्मक देवता थे, जिन्हें सूर्य से समाहित कर दिया गया है, किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक सरल एवं स्वाभाविक मान्यता यह है कि सविता सूर्य के समकक्ष हैं। ब्राह्मण संहिता में भी सविता देव का वर्णन मिलता है। वैदिककाल में भी सविता देव को अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त था, ऐसे प्रमाण 'ऋग्वेद' के सूक्तों को पढ़ने पुन: मनन करने से स्वत: स्पष्ट किया जा सकता है। पुन: इन्हें ब्राह्मण साहित्य में भी वही गौरवपूर्ण स्थान देकर इनका सम्माननीय एवं प्रतिष्ठित देवता स्वीकार किया गया है। ताण्डय ब्राह्मण[1] में उल्लेख मिलता है कि लोग 'सवितृ' और 'सूर्य' में समानता एवं समीकरण करते हैं। पुन: इसी ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि "पाँच कपालों में पुरोडाश प्रदान करने का वर्णन आता है।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में इस देवता को महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त था।

विष्णु-

वस्तुत: यह सूर्य देव का ही क्रियाशील स्वरूप है, जिसकी कल्पना विष्णु के रूप में की गयी है। 'विष्णु' का सबसे महत्वशाली कार्य पृथ्वी को तीन पगों में माप डालने का वर्णन है। ब्राह्मणों में विष्णु को क्रमश: पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में तीन पाँव प्रक्षेप करे वाला बताया गया है। यज्ञ कर्ता अर्थात् यज्ञ को सम्पादित करने वाला इन तीन पगों को अनुसरण करता है।[3] यज्ञों को महत्व इनके कारण भी प्राप्त होता है, इसका वर्णन ब्राह्मणों में किया गया मिलता है। ब्राह्मणों मे उपलब्ध संकेत के अनुसार विष्णु ने यज्ञ को तीन भागों में विभाजित किया। "वसुगण" प्रात: सवन के "रूद्र" देवता माध्यन्दिन सवन के और "आदित्य" तृतीयसवन के अधिकारी कहलाते हैं।[4]

इस प्रकार इसके अतिरिक्त द्युस्थानीय देवताओं में "उषा" , विवस्वान, इत्यादि का भी विवेचन ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत मिलता है ।

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

"इन्द्र" - अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में इन्द्र को सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ये वैदिक भारतीयों के प्रिय देवता हैं। ऋग्वेद के चतुर्थांश सूक्तों में केवल इन्द्र की स्तुति पायी जाती है। इन्द्र सोमपान के बहुत ही प्रेमी हैं। इन्द्र इसके इतने प्रेमी है कि इनका एक नाम "सोमपा " पड़ गया। "ताण्ड्यब्राह्मण"[1] में कहा गया है "इन्द्र के पिता त्वष्टा माने गये हैं"। ब्राह्मणों में इन्हें प्रजापति का ज्येष्ठ एवं प्रिय पुत्र बतलाया गया है।[2] एक कथा ब्राह्मणों में और भी आयी है - "कुत्स" इन्द्र के पुत्र थे। दोनों में परस्पर विरोध था। कुत्स ने इन्द्र के लिए यज्ञ करने का निषेध कर दिया था, इन्द्र ने उसके पुरोहित को प्रलोभन देकर अपने लिए यज्ञ करवाया, बाद में पता चलने पर कुत्स ने उसे मारकर नदी में फिंकवा दिया। तब इन्द्र ने रोहित वर्ण की मछली का रूप धारण करके उसके मुख से उसके मुख से सारा सोमरस पीलिया था, इस कथा से इन्द्र की लोकप्रियता का पता चलता है। साथ-साथ वे कितने सोम के प्रेमी है इसका भी सहज अनुमान लगाया जासकता है। "ताण्ड्य महाब्राह्मण"[3] में उल्लेख है "मरूतों द्वारा रक्षित एवं प्रचोदित इन्द्र वृत्रासुर को मारने में सफल होते हैं।"

- - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्डय महा ब्राह्मण -16/4
2. वही - 14/6/8
3. वही - 13/4/1

इन्द्र को "हिरण्याक्ष" "हिरण्यहस्त" "हिरण्यबाहु" इत्यादि शब्दों से सुशोभित किया गया है। ये बहुत शक्ति शाली थे। इसका विवेचन ऋग्वेद के सूक्तों में मिलता है। ताण्ड्य महाब्राह्मण[1] में एक स्थान पर कहा गया है "इन्द्र ने यतियों को उनकी अश्लील वाणी के कारण सालावृकों को दे दिया था।" इस घटना का ब्राह्मण साहित्य में बहुशः उल्लेख पाया जाता है। इसी ब्राह्मण में पुनः एक उल्लेख है "यज्ञों में इन्द्र के लिए एकादश पुरोडाशों का निर्वपन किया जाता था"।[2]

"रुद्र"

ऋग्वेद में "रुद्र" का स्थान एक अप्रधान देवता के समान है। यह विवरण सूक्तों के अध्ययन में मिलता है। इनका स्थान "अग्नि" इन्द्रादि देवताओं की अपेक्षा बहुत कम महत्व का है। फिर भी अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में इनकी गणना की गई है।

ब्राह्मण साहित्य में भी "इससे" सम्बन्धित उल्लेख पाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण[3] में "रुद्र" की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेख है कि प्रजापति के रोदन से रुद्र की उत्पत्ति हुई थी। ताण्ड्य महाब्राह्मण[4] में भी यह 'महादेव' नाम के द्वारा मवेशियों का वध करने वाले कहे गये हैं।

"मरुत्गण"--

इन्द्र के साहचर्य में मरुद्गणों को ऋग्वेद में अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त था। मरुत् एक गण प्राय देवता है, जिसमें दो या एक सौ अस्सी गण देवता होते हैं। ताण्ड्य महाब्राहमण[5] में उल्लेख है कि ये गणशः देवता सात हैं।"

- - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य महाब्राह्मण - 8/1/4 ;2. वही -21/10/23

3. वही - 24/13/5 4. वही - 6/1/6

5. वही - 12/4/24

" पृथिवी - स्थानीय देवता"

ब्राह्मण साहित्य में पृथिवी स्थानीय देवताओं का भी वर्णन है। जिनमें कुछ का सारांशत: वर्णन इस प्रकार है-

"अग्नि"- पृथिवी स्थानीय देवताओं में अग्नि का प्रमुख स्थान है। जो यज्ञीय अग्नि का प्रतिनिधरूप है। महत्व की दृष्टि से इन्द्र के बाद अग्नि का ही स्थान है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में एक उल्लेख आया है- एक स्थल पर वीतहास वृक्ष को "अग्नि की अस्थि कहा गया है। पुन: इसी ब्राह्मण में "अग्नि" को देवताओं का मुख कहा गया है। "अग्नि" को अन्य देवताओं के साथ भी वर्णित किया है। ताण्ड्य ब्राह्मण में भी अग्नि को अन्य देवताओं के साथ समीकृत किया गया है। इसी ब्राह्मण में इग्नि को 'होता' कहा गया है।[1] "अग्नि ही यज्ञ है"[2] ऐसा इसी ब्राह्मण में आया है।

बृहस्पति- ब्राह्मण साहित्यों में बृहस्पति देवता का वर्णन आया हुआ है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में कहा गया है "बृहस्पति देवता ने एक बार देवों की पौरोहित्य कार्य के लिए जिस सत्र का अनुष्ठान किया था, वह उन्हीं के नाम अभिहित है।"[3]

सोम - इनका भी वर्णन ब्राह्मण साहित्य में आया है। ताण्ड्य महाब्राह्मण[4] में भी उल्लेख है कि इन्द्र के साथ मिलकर सोम ने वृत्रासुर का वध किया था।

- - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्यमहाब्राह्मण-12/4/24
2. वही - 11/5/2

पृथिवी-

ऋग्वैदिक साहित्य में पृथिवी को देवता कोप्रतिष्ठा प्राप्त थी। ब्राह्मण साहित्य में पृथिवी देवता से सम्बन्धित उल्लेख आया है।

"आचार"

ब्राह्मण साहित्य में उपलब्ध संकेतो के आधार पर उस काल के धार्मिक विकास पर विचार करते समय नैतिक आचार पर भी विचार करना आवश्यक है। वस्तुत: जब से मनुष्य ने सोचना, विचारना,और अपने जीवन को स्वतन्त्रतापूर्वक विनिर्माण करना आरम्भ किया है, तभी से यह शास्त्र प्रादुर्भूत हुआ। मानव सभ्यता से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ब्राह्मणसाहित्य से विदित होता है कि उस युग में सत्य को विशेष महत्व दिया गया था। हर युगों की यह धारणा रही है कि विना नैतिक पवित्रता के सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। सदैव सत्य बोलने का महत्व वर्णित है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाला ही स्वर्ग का अधिकारी होता है।[1] इसी ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि दीक्षित के पापों को व्याख्या करना भी पाप है,[2] जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह पापी के पाप के तिहाई भाग का अधिकारी माना जाता है।

ब्राह्मण युग में मनीषियों द्वारा लोकातीत आर्ष चक्षुमण्डित दृष्टाओं की वाणी में सार्वदैशिक तथा सार्वकालिक धर्म तथा आचार की मूल प्ररणाओं का स्फुरण हो रहा है। जो आज भी सभी विश्व के मानवों को सन्मार्ग पर ले जाने की क्षमता रखता है। ब्राह्मणों में उपलब्ध उपदेश मनुष्यों को कर्मण परोपकारी

- - - - - - - - - - - -
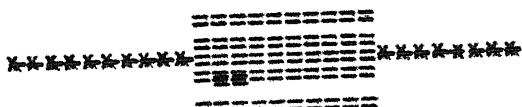
1. ताण्ड्य महाब्राह्मण - 18/2/9,

सत्यप्रिय बनने का उपदेश देते है। ब्राह्मण साहित्य में अध्यात्म के साथ व्यवहार का, परलोक के साथ, इहि लोक का, मंजुल सामंजस्य दर्शनीय है।

"ताण्ड्य[1] महाब्राह्मण" में असत्य बोलना वाणी का छिद्र कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार छेद के भीतर से सब वस्तुएँ गिर जाती है, उसी प्रकार अनृतभाषी की वाणी में से उसका सार गिर जाता है। अर्थात वह सारहीन वाणी किसी पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकती। इसी तरह ऐतरेय ब्राह्मण[2] में भी श्रद्धा तथा सत्य की मिथुन कल्पना बड़ी ही सुन्दर एवं रोचक है। "श्रद्धा पत्नी है सत्य यजमान है। श्रद्धा तथा सत्य की जोड़ी बहुत ही उत्तम है। यजमान अपनी पत्नी के साथ मिलकर यज्ञ के द्वारा स्वर्ग पाने में समर्थ होता है। उसी प्रकार सत्य श्रद्धा के साथ संयुक्त होकर स्वर्ग लोकों को जीत लेता है"। उस समाज में आतिथ्य की बड़ी महिमा का पता इसी घटना से लग सकता है कि आतिथ्य यज्ञ का सिर माना जाता था। अतिथि की पूजा यज्ञ के मस्तक की पूजा मानी जाती[3] थी। इस तरह ताण्ड्य महाब्राह्मणकालीन धर्म एवं आचार स्पष्ट हो जाता है।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. ताण्ड्य महाब्राह्मण – 8/6/12 " एतद्वाचश्छिद्रं यद् नृतम्।

2. ऐतरेय ब्राह्मण – 7/10

3. ऐतरेय ब्राह्मण –1/25 "शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् अतिथ्यम्"।

उपसंहार:

उपसंहार

"वेद" सर्वाधिक प्राचीनतम् ,पवित्र ग्रंथ है। वस्तुत: वेद धर्म का मूल है और समस्त ज्ञान से परिपूर्ण है। चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम इत्यादि का परिज्ञान"वेद" से ही होता है। वेद और वैदिकसाहित्य दोनों की अलग अलग श्रेणियाँ हैं।"वेद" शब्द से चार मंत्र संहिताओं का ज्ञान होता है, तो दूसरी ओर वैदिक साहित्य से वेद विषयक बहुविध सामग्री का ज्ञान होता है ये - ब्राहमण उपनिषद्,आरण्यक हैं। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत षड्-वेदांग भी आते हैं। संहि-ताएँ भी चार हैं- ऋक् संहिताएँ,यजु: संहिता, साम् संहिता एवं अथर्व संहिता।

वैदिक संहिताओं और उनकी शाखाओं के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों में का स्थान आता है। ब्राह्मण साहित्य से अभिप्राय "यज्ञ विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य के मत या वाद से है। वास्तव में ब्राहमण ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ विधान पर विद्वान पुरोहितों द्वारा दी गयी व्याख्याएँ है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन के व्याख्या करने वाले ग्रंथों को भी कहते हैं। इनमें वैदिक मंत्रों एवं ऋचाओं की व्याख्या करने वाले ग्रं न्थों की ही व्याख्या की गयी है। "ब्रह्म" का दूसरा अर्थ "यज्ञ" है। याज्ञिक कर्मकाण्ड की व्याख्या करने के कारण भी इन्हें ब्राह्मण कहा जाता है । वस्तुत: ब्राह्मण ग्रंथ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोष कहा जाय, तो उचित ही होगा।आज अनेक ब्राहमण ग्रंथ काल - कवलित हो गये हैं, केवल उनका नाम एवं उद्धरण ही श्रौत् ग्रंथों में पाया जाता है। इनकी संख्या बहुत थी, मगर आजकल सब नहीं मिलते। समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में ही निबद्ध किये गये हैं। ब्राह्मणों का गद्य बहुत ही परिमार्जित तथा उदात्त है। वस्तुत: इनकी भाषा संहिताओं की भाषा तथा

तो ज्यादा उचित होगा।

प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण है। ऋग्वेद में ऐतरेय और शांखायन ब्राह्मण, यजुर्वेद में शतपथ (शुक्लयजुर्वेदीय) , और तैत्तिरीय ब्राह्मण (कृष्णयजुर्वेद) सामवेद के अन्तर्गत- ताण्ड्यब्राह्मण, षडविंश, समाविधान, आर्षेय, दैवत, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद ब्राह्म वंश एवं जैमिनीय ब्राह्मण आता है। अथर्ववेद में "गोपथ ब्राह्मण" है। ये ब्राह्मण इन्हीं उक्त वेदों से सम्बन्धित हैं। "ताण्डय - ब्राह्मण" को ताण्ड्य महाब्राह्मण", पंचविंशब्राह्मण, प्रौढ़ ब्राह्मण की संज्ञा दी जाती है। 25 अध्यायों में विभक्त होने से इसे पंचविंश कहा जाता है। चूंकि सामवेद का यह मुख्य ब्राह्मण है और आकार में अन्यों से बड़ा है, इसलिए यह "महाब्राह्मण" के नाम से भी प्रसिद्ध है। रचना की दृष्टि से यह प्रौढ़ एवं प्राचीनतम् है, इसलिए इसे "प्रौढ़ " ब्राह्मण भी कहते हैं। यह "महाब्राह्मण जैमिनीय के बाद की रचना है। यह सामवेद का प्रधान ब्राह्मण 'ताण्डि' -शाखा से सम्बद्ध होने के कारण "ताण्ड्य" ब्राह्मण कहा गया।

यज्ञों की विस्तृत व्याख्या, इस ब्राह्मण को और भी महनीय बना दिया है। इसमें सोमयागों का विस्तृत विवेचन बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसी ब्राह्मण में 'एकाह', 'अहीन', सत्रों का वर्णन है। 'एकाह' - इसमें सोमाहुति केवल एक ही दिन की जाती है, इसलिए 'एकाह' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। पुन: एक से अधिक दिनों तक चलने वाले याग को 'अहीन' संज्ञा से अभिहित किया जाता है इसमें एक दिन से अधिक और बारह दिन तक सवन दिवस होते हैं। "सत्रों" के वर्णन में हम देखते हैं कि यह 'त्रयोदश' रात्रि से लेकर 'सहस्रसंवत्सर' तक

का विस्तृत वर्णन है, यह समस्त सोमयागों की मूल प्रकृति है। इसमें अन्तिम स्तोम प्रयुक्त होने के कारण ही इसे "अग्निष्टोम" कहते है।छः ज्योतिस्वरूप छन्द जब प्रयुक्त होता है तब इसे "ज्योतिष्टोम" कहा जाता है। इसके अन्य स्वरूपों में "अग्निष्टोम" "अत्यग्निष्टोम",""उक्थ्य,"षोडशी"वाजपेय,"अतिरात्र" आते हैं। अहीन के अन्तर्गत "ज्योतिटोम", सर्वस्तोम, अप्तोर्याम,नव, सप्तदश अति-रात्र" गोष्टोम, आयुष्टोम तथा चार एक स्तोम वाले त्रिवृत्तादि है। "द्वादशाह" यज्ञ का भी वर्णन इसीके अन्तर्गत आया है, यह यज्ञ दो प्रकार का होता है-सत्र रूप और अहीन रूप।

"ताण्ड्य महाब्राह्मण" के द्वितोय तथा तृतोय अध्यायों मे त्रिवृत्त, 'पन्चदश,''सप्तदश,' आदि स्तोमों की विष्टुतियों का वर्णन जो पाया जाता है वह श्लाघनीय है। "गवामयन" का वर्णन बहुत हो सुरुचि पूर्ण तरीके से प्रस्तुत किया गया है। "गवामयन" एक वर्ष तक चलने वाला याग है। वह समस्त सत्रों की प्रकृति भी है। 'ज्योतिष्टोम,' 'उक्थ्य,' 'अतिरात्र' का वर्णन इस ग्रन्थ को गरिमा और भी बढ़ा देता है। "औदुम्बरी" शाखा को स्थापना तथा "द्रोणकलश" का वर्णन,तथा सवनों- प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवनका बहुत हो मनोरम वर्णन देखने को मिलता है।
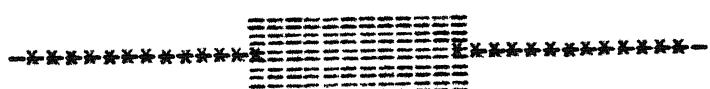
"सोमयाग" का वर्णन इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है साम के विशेष प्रकारों का वर्णन भी इसी में प्राप्त होता है। "व्रात्य-यज्ञ" का वर्णन अति महत्व-पूर्ण है। वस्तुतः 'व्रात्यों' को आर्यो के समकक्ष लाने के लिए अथवा आर्यो की श्रेणी में लाने के लिए इस यज्ञ का विधान हुआ। ऐसा वर्णन अन्यत्र भी मिलता है,मगर जितने सुन्दर ढंग से , विस्तार से, इसके विषय में विवेचना हमें देखने को मिलती

है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'व्रात्यों' की "वेशभूषा" 'आचार विचार'खान-पान,इत्यादि का वर्णन तथा इस संबंध में 'बहुमूल्य पदार्थों' का निर्देश महत्व पूर्ण है। वह धार्मिक दृष्टि से भी विशेष महत्व रखता है।

"ताण्ड्य महाब्राह्मण" की उपयोगिता हमें अनेको रूपों में मिलती है। ब्राह्मण युगीन भौगोलिक ज्ञान के लिए इसकी अत्यन्त उपयोगिता है। "कुरुक्षेत्र" तथा "सरस्वती का मण्डल" इस का भौगोलिक क्षेत्र है, जिसकी गणना स्वर्ग के समानकी गयी है। इसमें कतिपय भौगोलिक स्थानों का वर्णन मिलता है। चूँकि हमें इसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड की भरपूर सामग्री उपलब्ध होती है,मगर इसके साथ-साथ आख्यानों का भी वर्णन आया है, वस्तुत: आख्यान याज्ञिक क्रिया कोसर्व साधारण के लिए सुलभ एवं ज्ञेय बनाते हैं। ये आख्यान मानव चरित्र की नैतिकता की भी जानकारी देते है। मेरे विचार से इनका प्रणयन याज्ञिक विधियों की व्याख्या की दृष्टि से किया गया है, जो उचित भी है। वास्तव में इन से दो कामों की पूर्णता देखने को मिलती है- पहली तो यज्ञों के स्वरूप का स्पष्टीकरण . दूसरे चारित्रिक तथा सामाजिक आदर्शों की स्थापना है। इन आख्यानों में सोमाहरण की कथा, (वाणी) की कथा, दक्ष से सम्बन्धित आख्यान, इन्द्र से सम्बन्धित आख्यान, "काण्डूव-नार्षद" मिलते हैं।

'वर्णव्यवस्था' , 'संस्कार', 'आश्रम', 'आर्थिक दशा', 'धार्मिक एवं नैतिकता', दार्शनिक तथा राजनैतिक, विवेचन इत्यादि वर्णनों से भी यह ग्रंथ सुसज्जित है। इनका विवेचन इस ग्रंथ की उपयोगिता को नि:सन्देह और भी बढ़ा देता है। नारी की महिमा अर्थात स्त्री शिक्षा और समाज में उनके स्थान का भी वर्णन हमें

इस तरह इसमें यागुनुष्ठानों का विशाल एवं मनोरम वर्णन है, यह निर्विवाद है,अगर पाश्चात्य या देशीय आलोचक इसे नगण्य दृष्टि से देखने का दुःसाहस करे, या व्यर्थ को बकवाद मानें, मगर मेरा अपना विचार है की इसकी उपयोगिता थी, और रहेगी भी,क्यों कि किसी न किसी रूप में ये अनुष्ठान आज भी सम्पन्न किये जाते हैं, जन्म से लेकर मृत्यु तक इनका क्रम किसी न किसी रूप में चलता आ रहा है, यह देखने को मिलता है, आज कहीं न कहीं यज्ञ सम्पन्न किये जाते रहते हैं, देवयज्ञ ,पितृयज्ञ, इत्यादि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। हाँ, इनमें कुछ कमी आ गई है, यह बात अलग है,क्योंकि मैं भी मानता हूँ कि परिस्थिति के परिवर्तन होने से यह अवश्य ही कुछ धूमिल सा हो गया है। फिर भी यह धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से आज भी उपादेय संग्रहणीय और मननीय है। पुनः इसके लिए जरूरत है-श्रद्धामय अनुशीलन तथा अन्तरंग दृष्टि की। इस तरह इस ग्रन्थ में "ताण्ड्य महाब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन" के विवेचन में, ब्राह्मणों का सामान्य परिचय,ताण्ड्य महाब्राह्मण, यज्ञ संस्था तथा सांस्कृतिक तत्वों -वर्णव्यवस्था, संस्कार, आश्रम,स्त्रीशिक्षा तथा समाज , ताण्ड्य महाब्राह्मण कालीन आर्थिक एवं एवं धार्मिक स्थिति से सम्बन्धित अंशों को, साथ ही साथ अन्य ग्रन्थोंसे , इससे सम्बन्धित उचित अंशों को भी प्रदर्शित किया गया है।

ग्रन्थानुक्रमणिका

" ग्रन्थानुक्रमणिका "

(क) वैदिक ग्रन्थ सूची

	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशन व समय
1.	अथर्ववेद संहिता	स्वाध्याय मंडल, सतारा, सन् 1956
2.	अथर्ववेद संहिता सौनक शाखा	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सन् 1916
3.	आर्षेय ब्राह्मण	सम्पादक -सत्यव्रत सामाश्रयी, कलकत्ता, शक्-1796
4.	ऋग्वेद में यज्ञ कल्पना	जयपुर प्रकाशन, सन् 1965 ई0।
5.	ऋक्संहिता सायण भाष्य	वैदिक संसोधन मंडल, पूना, सन् 1936 ई0।
6.	ऐतरेयारण्यक	आनन्द आश्रम पूना, सन् 1966 ।
7.	ऐतरेय ब्राह्मण, साण भाष्य	आनन्द आश्रम पूना, सन् 1989
8.	काठक संहिता	स्वाध्याय मंडल सतारा, सन् 1943
9.	काण्व संहिता	स्वाध्याय मंडल सतारा, सन् 1943
10.	कौषीतकि ब्राह्मण, सायणभाष्य	वेपर्स वेडन, प्रकाशन सन् 1968
11.	गोपथ ब्राह्मण	इण्डोलाजिकल हाउस दिल्ली, सन् 1972
12.	छान्दोग्य ब्राह्मण	संस्कृत कालेज, कलकत्ता, 1958 ई0।
13.	जैमिनीय ब्राह्मण	नागपुर प्रकाशन, सन् 1956
14.	तैत्तिरीय आरण्यक सायण भाष्य	कलकत्ता प्रकाशन सन् 1976
15.	तैत्तिरीय ब्राह्मण सायण भाष्य	आनन्द आश्रम पूना, सन् 1989

16. ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् — चौखम्बा, बनारस- 1935

17. दैवत ब्राह्मण — जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1381

18. मैत्रायणी संहिता — बाँके बिहारी प्रकाशन, आगरा, 1983

19. यजुर्वेद भाष्यम् — वैदिक यन्त्रालय अजमेर, सम्वत् 2017

20. यजुर्वेद संहिता सायणभाष्य — चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् 1915

21. वैदिक देवशास्त्र — संस्कृत संस्थान बरेली, सन् 1961

22. विष्णु स्मृति — वसन्त प्रेस थियोसाफिकल सोसायटी, मद्रास सन् 1946,

23. बृहदारण्यक सायणभाष्य — कलकत्ता प्रकाशन, सन् 1978.

24. वंश ब्राह्मण — सत्यव्रत सामाश्रयी कलकत्ता, शक् 1796

25. सामविधान ब्राह्मण — सत्यव्रत सामाश्रयी, कलकत्ता शक् 1795

26. सामवेद सायण भाष्य — वैदिक संसोधन मंडल पूना, सन् 1938

27. संस्कृत हिन्दी कोश — बंगलारोड जवाहर नगर, दिल्ली, सन् 1966

28. शतपथ ब्राह्मण सायण भाष्य — वैंकटेश्वर प्रेस बम्बई, सन् 1940

(ख) " <u>पौराणिक ग्रन्थ सूची</u> "

29. अग्निपुराण — वैदिक संसोधन मंडल, पूना सन् 1957

30. अग्निपुराण — गीताप्रेस, गोरखपुर , सन् 1991

31. बाल्मिकी रामायण — गीता प्रेस गोरखपुर, सम्वत् 2010

32. महाभारत — गीता प्रेस, गोरखपुर सम्बत् 2033

33. विष्णु पुराण — गीता प्रेस, गोरखपुर, सन् 1987

34. श्रीमद्भागवत् महापुराणम् — गीताप्रेस गोरखपुर, सन् 1990

(ग)

सहायक ग्रन्थ सूची

	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशन स्थान व सन्
1.	उपनिषद् काव्य कोष	जी०ए० जैकब	मोतीलाल बनारसी दास बम्बई, सन् 1963
2.	ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन	डॉ० नाथूलाल पाठक	जयपुर प्रकाशन-सन् 1961
3.	पौराणिक कोश	रामप्रसाद शर्मा	ज्ञानमंडल वाराणसी, संवत 2013
4.	ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् (प्रथम एवं द्वितीय भाग)	श्री चिन्नास्वामी शास्त्री एवं पट्टाभिरामशास्त्री	बनारस, 1935 एवं 1936
5.	भारतीय संस्कृति एवं साधना	डॉ० गोपीनाथ कविराज	राष्ट्रभाषा, परिषद्, बिहार, सन् 1972
6.	मानव श्रौत सूत्र	डॉ० जीनेट एम०	नई दिल्ली 1961
7.	मीमांसान्यायप्रकाश	पं० चिन्नास्वामी शास्त्री	बनारस 1949
8.	लघुसिद्धान्त कौमुदी	धरानन्द शास्त्री	दिल्ली, 1986
9.	लाट्यायन श्रौत सूत्र	अग्निस्वामी	कलकत्ता, 1872
10.	वाल्मीकि रामायण कोश	रामकुमार राय	चौखम्भा प्रकाशन् काशी, सन् 1965
11.	वेदार्थ के विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन	डॉ० युधिष्ठिर मीमांसक	वेदवाणी काशी, सन् 1964
12.	वैदिक वाङ्मय काइतिहास	पं०भगवतदत्त	अमृतसर प्रकाशन, सम्वत्-2013
13.	वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति	पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी	पटना सन् 1969

14.	वैदिक साहित्य और संस्कृति,	वाचस्पति गैरोला	संवर्तिका प्रकाशन, केरलबाग,सन् 1969
15.	वैदिक साहित्य का इतिहास,	डॉ० कृष्ण कुमार	साहित्य भंडार,सुभाष बाजार,मेरठ,सन् 1958
16.	वैदिक साहित्य और संस्कृति,	आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय	शारदा संस्थान,वाराणसी, 1973
17.	वैदिक वाड्मयएकअनुशीलन,	डॉ० ब्रजविहारी चौबे	होशियारपुर-1972
18.	वैदिक साहित्य की रूपरेखा,	सत्यनारायण पाण्डेय	साहित्य निकेतन,कानपुर, 1957

(घ) "अंग्रेजी ग्रन्थ सूची "

19.	"आन द वेद"	श्री अरविन्द	अरविन्दोआश्रम,पाण्डेचेरी,सन् 1964
20.	रिलिजन ऑव द वेद,	ब्लूम फील्ड	पूना, संवत 2020
21.	वैदिक इण्डेक्स,	मेक्डानल तथा कीथ	मोतीलाल बनारसी दास बम्बई,1958
22.	वैदिक बिब्लोग्राफी,	आर०एन०दण्डेकर	पूना,1947
23.	सैक्रिफाइस इन द वेद,	डॉ० के०आर० पोतदार	बम्बई-1953
24.	संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी,	सर मोनियर विलियम्स	दिल्ली-1943

0 0 0 0 0
0 0 0
0